

डाकू
आये
घे

लक्ष्मीनारायण लाल



1944

1945

1946

1947

1948

1949

1950

1951

1952

1953

1954

1955

1956

1957

1958

1959

1960

1961

1962

1963

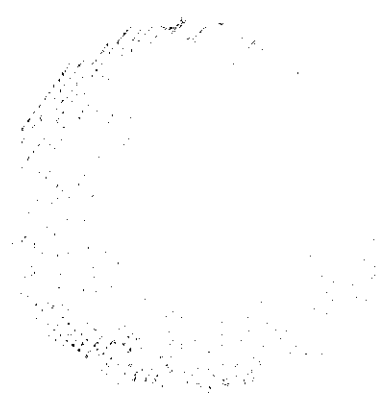
1964

1965

1966

1967

1968

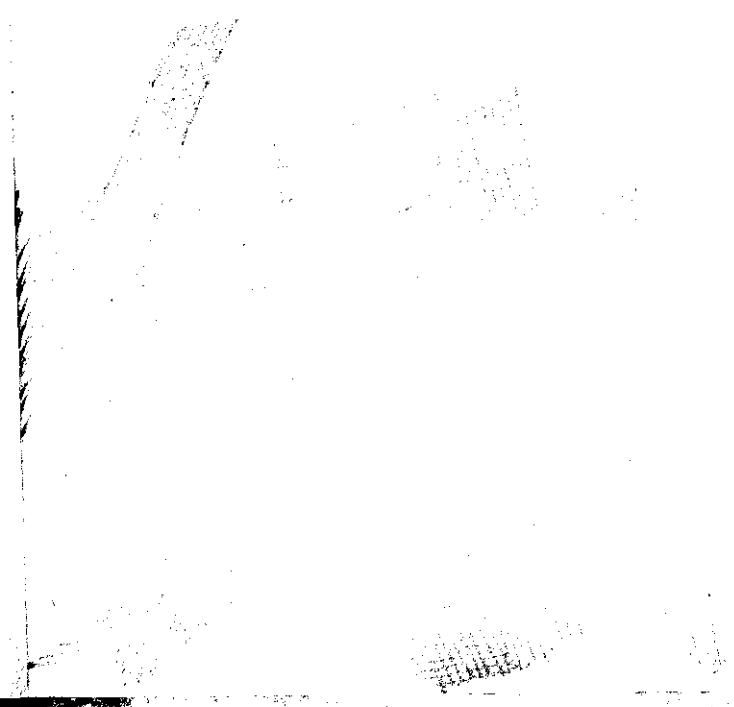


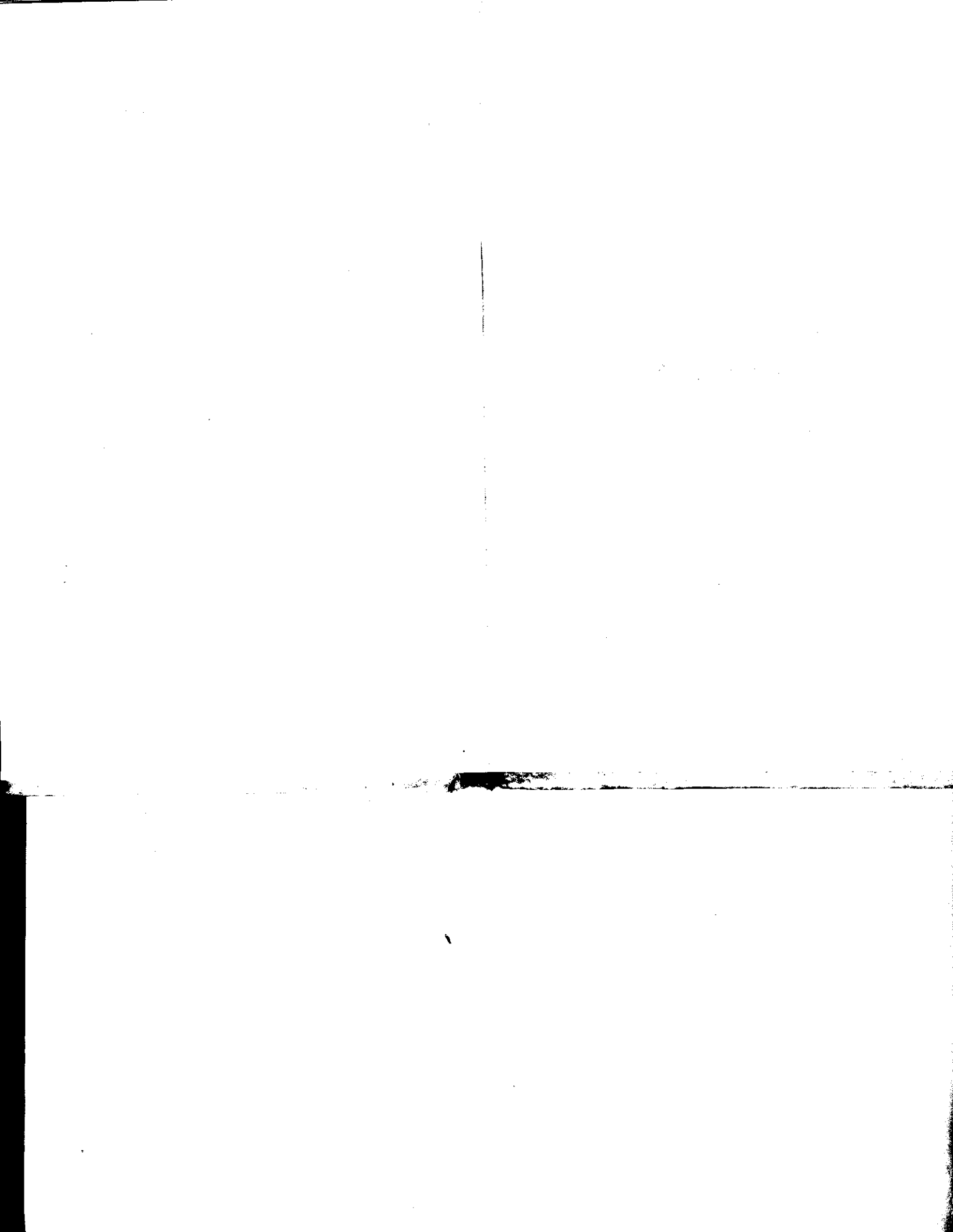
Handwritten text at the top right, possibly a title or header, in a cursive script.

Handwritten text below the top right, possibly a subtitle or a specific reference.

Handwritten text in the middle right section, possibly a name or a specific title.

Handwritten text in the lower left quadrant, possibly a date or a location.





दो शब्द

वह गद्य निरर्थक है, जो मनुष्य द्वारा मनुष्य के शोषण के खिलाफ नहीं है—यह सच्चाई बुनियादी तौर पर गद्य की उस मूल प्रकृति की ओर संकेत है, जहाँ गद्य का अर्थ है 'कार्य' ।

इसीलिए गद्य साहित्य की अर्थवत्ता साहित्यिकता, कलात्मकता आदि अपने चारों ओर के संसार, जगत और उसके यथार्थ के ही रिश्ते में है—अर्थात् यह बाहरी यथार्थ से सापेक्ष है, जहाँ कविता इससे निरपेक्ष होकर अपने आन्तरिक सौन्दर्य-बोध के आधार पर भी खड़ी रह सकती है—पर ऐसा गद्य साहित्य के लिए कभी सम्भव नहीं । आज दो दशकों से अधिक समय के फलक पर जब हम अपना गद्य साहित्य—विशेषकर अपना कथा-साहित्य देखते हैं तो कई बातें आज बेमानी लगती हैं—विशेषकर वे बातें जिन पर करीब एक दशक तक यहाँ जोरदार बहसें होती रही हैं : 'नयी कविता बनाम नयी कहानी', 'पहले नयी कविता या नयी कहानी', 'नयी कविता और मानवमूल्य', 'नया कथा साहित्य और जीवनमूल्य' आदि-आदि ।

बहसें खत्म हो गयी हैं, पर उनके मूल्य अब तक हमारी पीढ़ी के कथा साहित्य में कार्यरत हैं । उदाहरण के लिए बुनियादी सवाल था उसी रचनाकार 'व्यक्ति' का । व्यक्ति की स्वतन्त्रता, स्वतन्त्रता की प्रतिबद्धता, आदि ।

दो शब्द

वह गद्य निरर्थक है, जो मनुष्य द्वारा मनुष्य के शोषण के खिलाफ नहीं है—यह सच्चाई बुनियादी तौर पर गद्य की उस मूल प्रकृति की ओर संकेत है, जहाँ गद्य का अर्थ है 'कार्य' ।

इसीलिए गद्य साहित्य की अर्थवत्ता साहित्यिकता, कलात्मकता आदि अपने चारों ओर के संसार, जगत और उसके यथार्थ के ही रिश्ते में है—अर्थात् यह बाहरी यथार्थ से सापेक्ष है, जहाँ कविता इससे निरपेक्ष होकर अपने आन्तरिक सौन्दर्य-बोध के आधार पर भी खड़ी रह सकती है—पर ऐसा गद्य साहित्य के लिए कभी सम्भव नहीं । आज दो दशकों से अधिक समय के फलक पर जब हम अपना गद्य साहित्य—विशेषकर अपना कथा-साहित्य देखते हैं तो कई बातें आज बेमानी लगती हैं—विशेषकर वे बातें जिन पर करीब एक दशक तक यहाँ जोरदार बहसें होती रही हैं : 'नयी कविता बनाम नयी कहानी', 'पहले नयी कविता या नयी कहानी', 'नयी कविता और मानवमूल्य', 'नया कथा साहित्य और जीवनमूल्य' आदि-आदि ।

बहसें खत्म हो गयी हैं, पर उनके मूल्य अब तक हमारी पीढ़ी के कथा साहित्य में कार्यरत हैं । उदाहरण के लिए बुनियादी सवाल था उसी रचनाकार 'व्यक्ति' का । व्यक्ति की स्वतन्त्रता, स्वतन्त्रता की प्रतिबद्धता, आदि ।

यह सच था और आज भी उतना ही सच है कि आधुनिक बोध के लिए व्यक्ति की इयत्ता या आत्मबोध अनिवार्य शर्त है। इस शर्त के प्रकाश में जब हम अपने भीतर-बाहर उस 'व्यक्ति' की तलाश करते हैं, तो हम पाते हैं कि व्यक्ति के नाम पर तो हम वही समाज हैं, संस्था हैं, अंधविश्वास हैं, समूह हैं और सबसे बड़ी बात, हम स्वयं एक ऐसी सत्ता हैं, जिसमें हम इस तरह से बँधे और आकंठ फँसे हुए हैं कि उससे अलग ही नहीं हो सकते। इन्हीं संस्थाओं (सामाजिक, पारिवारिक, वैवाहिक, धार्मिक) और सत्ताओं (विश्वास, शक्ति, परम्परा) से मुक्ति के लिए हमने संघर्ष लेना शुरू किया। पहले उन तमाम संस्थाओं के प्रति हमने चोट की, जहाँ हम समझते थे, हम उसमें आ फँसे हैं। उन सत्ताओं पर मार की, जहाँ से हम स्वतंत्र व्यक्ति हो सकते थे। उदाहरण के लिए क्रमशः हमने 'परिवार' से अपने को काटा और 'राजनीतिक' विश्वास से। यही नहीं, हमने इसी के अनुसार अपनी जिन्दगियाँ बितानी शुरू कीं। सामाजिक, वैयक्तिक, पारिवारिक, वैवाहिक प्रतिबद्धताओं को छोड़ कर 'आत्मप्रतिबद्धता' की बातें कीं। राजनीतिक प्रतिबद्धता के स्थान पर 'व्यक्ति-स्वातंत्र्य' या 'आत्म स्वातंत्र्य' के प्रति 'आस्था' प्रकट की।

यह दर्शन कविता के लिए चाहे जितना कारगर हो, गद्य साहित्य— विशेषकर कथा साहित्य के लिए अत्यन्त घातक था।

॥ कथा साहित्य का कोई भी ईमानदार पाठक और विद्यार्थी इस सत्य को जाने बिना नहीं रह सकता कि कथा साहित्य का आधारभूत संसार 'परिवार' है, 'व्यक्ति' है। इसी संसार के भीतर से ही कथाकार अपने समय की समग्रता को पकड़ता है और अपना 'कार्य' करता है। 'परिवार' और 'व्यक्ति' के ही जीवनगत तानों-बानों में वह उस अदृश्य का, अकथ्य का हमें बोध कराता है, जिसमें राजनीति, धर्म, शोषण और कल्याण की वह समग्र अनुभूति होती है—जो जीवन की सतह पर ही सम्भव है। उससे ऊपर वह उठा नहीं कि वह अर्थहीन हो जाता है।

(१०)

हमारे यहाँ व्यक्तिबोध की प्रक्रिया ठीक इसकी उल्टी दिशा में शुरू हुई। स्वतंत्रता के नाम पर आत्मकेन्द्रित, प्रतिबद्धता के नाम पर आत्मबद्ध होने के कारण उसमें वह 'व्यक्ति' पैदा ही नहीं हो सका, जो स्व और आत्म के अन्तर को जान सके। जो अपने से अलग या दूर होकर खुद को चारों के यथार्थ को देख-परख सके।

टी० एस० इलियट ने इसी अलगाव को, दूरी को, कला की संज्ञा दी थी—वह प्रसंग तब कविता का था—इसे न भूलना चाहिए। गद्य साहित्य के प्रसंग में सार्थ ने उसी अलगाव या दूरी को ('गैप') 'स्वतंत्रता' कहा है।

लेकिन यह स्वतंत्रता है क्या? इसकी पहचान क्या है? किसे हम स्वतंत्र कहेंगे? जहाँ और जिसे चुनाव करने की आजादी है, और जिसमें हर क्षण 'कार्य' करने की चेतना है। लेकिन दूसरी ओर यह भी सच है कि इस अन्तराल में खालीपन, रिक्तता भी है, अकेलापन और हताशा भी। वास्तविक कथाकार इसी हताशा-उदासी, अकेलापन-खालीपन और विवशता से, अपनी और हमारी स्वतन्त्रता के मानवीय आधार भूमि से लड़ता है।

दूसरी ओर नकली कथाकार अपने आत्मबोध या 'भोगे हुए' दर्शन के आधार से अपनी कथा में इसी लड़ाई से भाग कर, बल्कि उसकी अवज्ञा कर केवल अन्तराल-स्थिति चित्रण में ही अपने को धन्य मानता है। नयी कहानी का सारा उत्तरार्द्ध और उसके बाद से मानवीय गरिमा, स्वातंत्र्य-बोध से भागा, कटा हुआ 'अकथा', 'साठोत्तरी', 'अनाम', 'बनाम', यह सारी कथा दिशा और संसार उसी 'आत्मभोग' की ऐसी तस्वीर है, जहाँ मात्र है उदासी, भटकन, निर्वीर्यता, कायरता, स्वीकृति और शरीररति। इसके लिए इन कथाकारों का मनगढ़न्त दर्शन (?) है 'स्वतंत्रता'—ऐसी अमानवी अनोखी, वायवी स्वतंत्रता जिसे दूसरे की स्वतंत्रता का जरा भी अहसास नहीं। जिसे इतना भी चेतनता नहीं कि हर मनुष्य की आजादी

(११)

दूसरे की आजादी पर मुनहसर है। यह आजादी वस्तुतः उस समाज और व्यवस्था से पैदा होती है जहाँ शोषण और दमन से सतत लड़ाई लड़ी जाती है।

प्रश्न है, हिन्दी में यह आत्मरति आयी कहाँ से ? कैसे ? इसका उत्तर शायद उसी 'व्यक्ति' की तलाश या उदय दर्शन के भीतर है। जहाँ व्यक्ति के उदय के स्थान पर केवल अहंकार उदित हुआ। सबसे कट कर केवल हवा में उड़ता हुआ अहंकार। यही अहंकार कथा क्षेत्र में ऐसी कहानियाँ-उपन्यास लिखता रहा है, जहाँ देश-काल-परिस्थिति गायब हैं, जहाँ पात्र बेनाम हैं, जहाँ उनकी पहचान असम्भव है, कथ्य और उद्देश्य जहाँ निर्मूल हैं—जहाँ कुछ भी निश्चित नहीं है—न पक्ष, न शर्त, न प्रतिबद्धता।

लक्ष्मीनारायण लाल

अनुक्रम

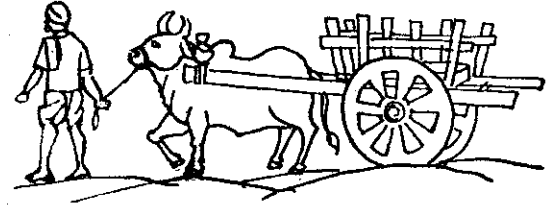
● ● ●

अश्वमेध का घोड़ा	१७
नया नगर	३१
गुलबदन	४१
सीता वनबास	५६
पशु मेला	७१
नदी माई	८५
डाकू आये थे	९६
रामलीला	१११
बंद कमरा	१३१

डाकू
आये थे



अश्वमेध
का घोड़ा



चलती हुई बैलगाड़ी। बैल हांकते-हांकते गाड़ीवान के कंठ से गीत सहसा फूट पड़ा—‘मुखिया के मारे बिरहा बिसरिगै!’ लगता था, मानो वह गीत अब खत्म नहीं होगा। गाड़ी में बैठे-बैठे मैं तंग आ गया था। गाड़ी से बाहर कूदकर पैदल चलने लगा। गाड़ीवान बोला, ‘बैठे-बैठे थक गयो साहेब?’

मैं बोला नहीं। गाड़ीवान बड़बड़ाता रहा, ‘अभी दिन डूबै मा दुई घंटा बाकी है। आधे घंटा मा घाट पहुँच जाब। सरजू मइया का आखिरी खेवा जरूर मिलि जाई साहेब। उइह पार कौने गांव जाबो साहेब!’

—‘असमेधू....’

—‘ओ हो.... ममारखपुर के पास वाला असमेधू। ई कहो न साहेब, ऊ गांव में तो हमरे यहां के एक कुरमी के समधियान है।’

गाड़ी पर मेरा सामान रखा है—एक होल्डाल, एक बक्स और बेंत की एक डोलची। बक्स पर सफेद रंग से लिखा है मेरा नाम—कैप्टन

शर. के. सिंह यादव । पूरब दिशा में सावन के काले बादलों के छोटे-छोटे पहाड़ उभरे हैं । दिन भर पुरवइया बहकर अब थम गयी है । मैं थके मन से उस कच्चे रास्ते को देखता हुआ सोच रहा हूँ—अजब हैं ये धूल-भरे रास्ते, ये सूनी पगडंडियां, ये उदास गांव, कभी नहीं बदलते । परिवर्तन जैसे इन्हें छू नहीं पाता । इन्हीं पगडंडियों से तब पैदल चलकर मैं पहली बार गांव से शहर गया था । हां याद है....कितने दिनों की बात है....हां, शायद बीस-पच्चीस साल से भी ऊपर हो गये । पर क्या फायदा उन बीती बातों को याद कर ! आज इस पर बैलगाड़ी के पहिये चल रहे हैं, पर ये मेरी जिंदगी, मेरे जीवन इतिहास-बोध की जमीन पर चलते-से क्यों लग रहे हैं ? हां, सच, बहुत कुछ अटपटा भी लगता है !

बहादुरपुर ब्लाक डेवलेपमेंट की पक्की इमारतें पश्चिम दिशा में चमक रही हैं और नगरबाजार बिजली-स्टेशन पूरब की ओर से । दोनों के बीच में है यह कच्ची सड़क । बहुत कुछ तब से बदल गया है । यह नहर पहले नहीं थी । पर दूसरी ओर कुछ भी नहीं बदला है । सामने सोती नदी का वही पुराना पत्थरों वाला पुल । दायीं ओर वही बबूल के जंगल, वही नंग-धड़ंग लड़के—भैंस, गोरू चराते हुए ।

इन्हीं असंख्य गांवों की ही तरह मेरा भी वह गांव है । वाह, क्या नाम....असमैध । पता नहीं, किसने वहां अश्वमेध यज्ञ किया था । सब जाति के लोग हैं गांव में, मगर सब प्रजा जाति के हैं, चाहे ब्राह्मण ही क्यों न हों । गांव में जमींदार हैं तो वही ठाकुर रमायन सिंह । जमींदारी चाहे कब की खत्म हो गयी है तो क्या !

उनका लड़का शेरसिंह मेरा हमजोली था । मैं अहीर, वह ठाकुर । पर दोस्ती पक्की थी । हम दोनों ने एकसाथ हाईस्कूल पास किया । सन् अड़तालीस की बात है । हमारी उमर यही अठारह-उन्नीस की रही होगी । शेरसिंह के मामा कहीं डिप्टी-कलक्टर थे । सो उन्होंने शेरसिंह को जान-बूझकर सबसे मालदार महकमे, इनकमटैक्स, में लगा दिया और वह पढ़ा

२० | डाकू आये थे

शेरसिंह दो सौ रुपये महीने घर भेजने लगा । और मैं ! मैं फर्स्ट डिवीजन में हाईस्कूल पास करके भी घर बैठा रहा—बेकार ।

हाय, एक दिन काका का वह गुस्ता ! क्या नहीं कह दिया उन्होंने, 'अरे ससुरा डूब मर चुल्लू भर पानी मा, कालिख लगा ले....वह शेरसिंह दो सौ रुपये भेजता है घर मा, हर माह, अउर इ मक्खी मार रहल वाय ।'

पूरे दो वर्ष घर बैठे रहने की बेकारी का अपमान मुझे आज तक नहीं भूला जाता । काका को तब क्या उत्तर देता ! आज....हां आज....आज मैं जानता हूँ, देश को आजाद हुए अब इतने-इतने वर्ष बीत गये हैं । तब तो सिर्फ मास्टर साहब ने बताया था, 'देश आज आजाद हुआ है ।' पंद्रह अगस्त उन्नीस सौ सैंतालीस....तब हम नवीं जमात में थे ।

वंदे मातरम....जै हिंद !

बैलगाड़ी सरजूघाट के करीब पहुंच गयी ।

गाड़ीवान बोला, 'अभी एक हाथ दिन बाकी है ! गंगा मइआ का आखिरी खेवा जरूर मिल जाई साहेब !'

—'अच्छा !'

—'हां, नहीं तो....आवो अब गाड़ी पर बइठि लेव, सड़क अच्छी आय इधर ।'

मैं बैठ गया । गाड़ीवान से बातें करने लगा । जहां वह सड़क खत्म हुई और सामने बड़ी हुई सरजू का घाट दिखायी दिया, वहीं यह पता चला, बाढ़ के कारण आखिरी खेवा आज नहीं जाएगा । सुबह बड़ी नाव उस पार जाएगी । घाट पर पहुँचकर मैं चिंतित हो गया । किसी तरह आज ही उस पार जाना होगा । गांव में प्रतीक्षा हो रही होगी । मेरे छोटे भाई कन्हई की हत्या हुई है । किसी भी कीमत पर घर पहुंचना ही है ।

दिन डूब गया । सरजू नदी की बाढ़ जवानी पर है । इधर की सारी जमीन काटती हुई उसकी धार उतार की ओर बढ़ रही है । चारों ओर पानी का गर्जन सुनायी दे रहा है । कोई मल्लाह तैयार नहीं हो रहा है

अश्वमेध का घोड़ा | २१

नाव उस पार ले जाने के लिए। कैप्टन रामकिशोर यादव को किसी भी तरह उस पार जाना ही है।

किसी तरह पचास रुपये में एक मल्लाह तैयार हुआ नाव उस पार ले जाने के लिए। पर उसने साफ कह दिया—अगर बीच में नाव कहीं बह गयी, या डूब गयी तो उसकी जिम्मेदारी नहीं।

नाव पर सामान रखकर मैं बैठ गया। नाव खुली तो पूरब की ओर बहने लगी। असली धारा इसी ओर थी। नाव उस धार को काटकर आगे बढ़े, इसके लिए मल्लाह पानी से लड़ने लगा और बीच-बीच में कहता जाता—सब भगवान के हाथ में है।

यही बात तो तब कन्हई ने कही थी मेरी पत्नी से—‘भौजी, किशोर भइया को आगे पढ़ना चाहिए। काका उन्हें डांटते हैं तो बड़ी दया आती है। सब भगवान के हाथ में है भौजी। भइया को गहना-गुरिया बेचकर पढ़ने भेजो, घर-खेती का काम हम संभार लेवें!’

मैं उसी रात घर से भाग निकला और बस्ती शहर में जा पहुँचा था। जिला परिषद के दफ्तर में एक जगह खाली थी। इम्तहान हुआ। मैं सबसे अन्वल पास हुआ, पर चालीस रुपये घूस देने पड़े थे। दफ्तर के बड़े बाबू ने एक दिन मुझसे पूछा, ‘तुम्हारी शादी-वादी तो नहीं हुई है न?’

—‘हुई है वह तो!’

इस पर सारा दफ्तर हंस पड़ा था। मुझे बड़ी चोट लगी। शादी मेरे वंश की बात तो थी नहीं, ठीक जैसे हाईस्कूल के बाद शेरसिंह को उतनी बड़ी आमदनी की नौकरी भट मिल गयी और मैं दो वरस बेकार बैठा रहा।

नाव धार को काटने में लगी थी। मल्लाह बोला, ‘साहेब, आप तो फौज के इतने भारी अफसर हैं, ई नदी पर पुल बने वदे काहे न कोशिश कर देव!’

मुझे हंसी आ गयी। बेचारे मल्लाह को क्या पता, मैं क्या हूँ....यह

दुनिया क्या है....जहाँ-जहाँ मुझे भटकना पड़ा है।

मैं जिला परिषद के दफ्तर में क्लर्क करता था। बीस रुपये महीने घर भेजता और दिन-रात इंटर पास होने के स्वप्न देखता। एक दिन बड़े बाबू ने उस बांकुरियामल सेठ से मेरी भेंट करायी। सेठ को मैं रोज सुबह-शाम अखबार पढ़कर सुनाता। बदले में मुझे तीस रुपये महीने मिलते।

इस तरह कुछ रुपये जोड़े और नौकरी छोड़कर मैं इंटर परीक्षा पास हो गया।

नाव किनारे की धार को काटकर आगे बढ़ी। एक घंटा रात हो आयी थी, पर रात चांदनी थी। मल्लाह एकटक मुझे निहारने लगा।

मैंने पूछा, ‘क्या देख रहे हो?’

मल्लाह बोला, ‘हुजूर आप फौज में कमांडर हैं?’

—‘नहीं भाई, कप्तान!’

—‘साहेब, वही, वही....आप कहां से आवत हैं?’

—‘दिल्ली से!’

—‘साहेब आजकल इधर गावन मा चकबंदी होय रहल बाय। बड़ा किचाहिन है साहेब। एक से एक फौजदारी, कतल....मुकदमा....घूस.... बेईमानी ...।’

मैं सोचने लगा, इसी चकबंदी में ही तो मेरे छोटे भाई का कत्ल हुआ है और मैं तार देकर घर बुलाया गया हूँ। मैं फिर सोच में डूब गया....मेरे घर के लोग समझते हैं, मेरे पास न जाने कितना अधिकार है। इसी तरह मेरे पास न जाने कितने रुपये हैं। मैं जाट रेजिमेंट में एक कैप्टन हूँ। चीन और पाकिस्तान से दो लड़ाइयां लड़ चुका हूँ। पर आज अपने उसी गांव जाते समय मेरा कलेजा थर-थर कांप रहा है। मेरे प्राणों से अधिक प्यारा भाई कन्हई मारा गया है। इस चकबंदी में....। मैं आगे पढ़ूँ, इसलिए उसने सारी खेती संभाली थी। वह स्वयं मिडिल स्कूल से आगे नहीं पढ़ सका था।

एक मल्लाह ने कहा, 'साहेब, ई बंगलादेश का है...सुना है, पाकि-स्तान से फिर हमार लड़ाई होई ।'

मैं चुप रह गया । एक सिगरेट पीते-पीते मन फिर पीछे दौड़ने लगा....

इंटर पास होने के बाद मुझे किसी दफ्तर में नौकरी न मिली । अंत में सेठ बांकुरियामल के प्रयत्न से एक स्कूल में पी. टी. टीचर की जगह मिली । वहां स्कूल के स्टाफ-क्वार्टर में जगह भी मिल गयी । हेडमास्टर के आदेशानुसार मुझे वहां अपनी 'फेमिली' ले आनी पड़ी । दो बच्चों के संग घूँघट निकाले हुए जब मेरी अपढ़, गंवार धर्मपत्नी वहां आयी तो आसपास के लोगों को मजाक का जैसे मसाला मिल गया । मेरी पत्नी मनराजी का वहां जरा भी जी न लगता । एक दिन उसने कहा, 'इहां हम नाहीं रहब ।'

—'क्यों नहीं ?'

—'इहां कै लोग हम्मै पसंद नाहीं ।'

—'पर सोचो, क्या हमारा सारा जीवन इसी तरह बीतेगा ? तुम गांव में, मैं जीवन भर शहर में ।'

—'तो का हुआ, शहर में रहब ही जीवन है का ? राउर तो मर्द हैं, चिंता काहे । आप मजे से यहां रहें, हम बच्चों के साथ गांव मा खुशी से रहिलेब ।'

—'और वहां बच्चों की लिखाई-पढ़ाई ?'

....मेरे बच्चे गांव लौट गये । घर पर साठ रुपये माहवार भेजता, पर काका तब भी मेरी तुलना उसी शेरसिंह से करते, जो अपने घर अब भी दो सौ रुपये माहवार भेजता । इसी बीच एक घटना और घटी । मैं जाति का अहीर था और वह स्कूल ठाकुरों का था । मेरे नाम में सिंह लगा था । इसीलिए मुझे ठाकुर समझकर वह नौकरी मिली थी । पर मेरी पत्नी के कारण जैसे ही मेरी अहीर जाति का पता उन्हें मिला, मैं नौकरी से बर्खास्त कर दिया गया । मुझे वह अपमान आज तक नहीं भूलता ।

२४ | डाकू आये थे

मैंने स्कूल के खिलाफ सरकार को लिखा । इस पर स्कूल ने मेरा प्राविडेंट फंड रोक लिया और कहीं भी मुझे न्याय न मिला ।

फिर मुझे सेठ की कानपुर वाली कोठी में बच्चों को पढ़ाने का काम मिला । एक दिन मैंने सेठजी से कहा, 'मैं किसी तरह बी० ए० पढ़ना चाहता हूँ ।'

सेठजी ने प्रसन्नता से एक अजीब लहजे में कहा, 'आपन को क्या, पढ़ो न, पन तू पढ़ेगा कैसे ? यहाँ बच्चों को कून पढ़ायेगा ?'

मैंने स्कीम बता दी—सुबह, शाम पढ़ाना, दिन भर कालेज ।

सेठजी ने मंजूरी देते हुए कहा, 'पन हम बोलता, हमारा काम में हर्जा नहीं होना चाहिए । हम मुस्तैदी माँगता । अउर हां, बी० ए० पास होने के बाद हमसे अपनी पगार बढ़ाने के लिए मत बोलना, हां ।'

मैं बी० ए० (हिस्ट्री) ग्रानर्स में पढ़ने लगा । सर्वेंट-क्वार्टर्स कहे जाने वाले मकान के एक कमरे में रहता । कोठी में तीन तरह के भोजन बनते । मैं उसी तीसरी कोटि का हकदार था । सेठ की एक कोठी दिल्ली में थी, मुझे कभी-कभी सेठ के साथ वहां भी जाना पड़ता । वहाँ सुबह शाम सरकारी अफसरों और सेठजी से जो बातें होतीं, उन्हें सुनकर मैं अवाक रह जाता ।

हंसी और मजाक ! और यहां तक कि गालियां भी । इन गाली देने वाले लोगों में वे ही लोग होते, जो राजनीतिक व्यक्तियों और सरकारी अफसरों को भ्रष्ट कर उल्टे-सीधे काम लेते थे । उनमें से एक थे श्री खोसला साहब । वे किसी मंत्रालय में से भयानक भ्रष्टाचार के आरोप के कारण निकाले गये थे और एक बड़े फर्म में जनरल मैनेजर थे । एक दिन उनसे मेरी झड़प हो गयी, क्योंकि मैं उनके आने पर उठकर खड़ा नहीं हो सका ।

नाव मभद्वार में आ गयी थी और अब मल्लाह आराम से नाव को उस पार ले जा रहा था । मैं उन्हीं पूर्व-चित्रों के दलदल में फंसा था । एक

अश्वमेध का घोड़ा | २५

दिन उसी खोसला साहब ने कहा, 'सुना है तू बी० ए० पास हो गया ?'

—'जी ।'

—'ये ले चिट्ठी । इस मिनिस्ट्री में है मिस्टर टी० सोनिया, उनसे कल मिल लेना ।'

मैं दूसरे दिन मिस्टर सोनिया से मिला । सच, मुझे तत्काल नौकरी मिल गयी । असिस्टेंट रिसर्च आफिसर....। मैं बेहद एहसानमंद हुआ । एक दिन मैंने सेठजी और खोसला साहब की बातचीत सुनी—'बात यह है सेठजी, मैंने उसे इसलिए भट नौकरी दिला दी कि वह यहां कोठी पर न रहे । वह ठीक आदमी नहीं है हमारे लिए ।'

—'पन वो तो बड़ा ईमानदार आदमी है जी !'

—'ईमानदार आदमी अब किसी काम का नहीं होता ! ये लोग बड़े खतरनाक होते हैं । कोई भरोसा नहीं । सच्चे लोग विरोधी होते हैं ।'

एकाएक मल्लाह ने पूछा, 'साहेब, कबों हमरो दिन बदली ?'

मैं चुपचाप उसे देखता रह गया....अवाक, निरुत्तर । नाव अब मझ-धार से उस पार जाने लगी थी । और मुझे याद आ रहा था—उन्नीस सौ बासठ ! तब तीसरे आम चुनाव के साथ फिर मेरे जीवन में एक नया मोड़ आया था । अकस्मात् चीन ने भारत पर आक्रमण किया था । देश भर में एमरजेंसी लागू हुई थी और एक दिन एमरजेंसी कमीशन से सेकंड लेफ्टिनेंट के लिए मैं चुन लिया गया । पहाड़ी युद्ध की ट्रेनिंग शुरू हुई, इन्फैंट्री जाट रेजिमेंट में । यह सब इतनी तेजी से घटा, मानो फौजी जीवन के लिए ही मेरा जन्म हुआ था । सच, मेरे भीतर जो युद्ध था.... सामाजिक, आर्थिक स्तर पर....न्याय-अन्याय को लेकर जो संघर्ष मैंने अनुभव किया था, सोचा, इस फौजी जीवन में उसकी अभिव्यक्ति मिल जाएगी; पर वह युद्ध तो और गंभीर होता गया !

उधर गांव में काका सब पर रोब डालते । जमींदार के घर से उनकी ठन गयी । वे ताल ठोंककर कहते, 'अरे हमार रमकिसोरवा फौज मा

कमांडर ह्वेँ गै, दुइ-दुइ पिस्तौल बांधता है—जिसको चाहे उड़ाय देय । उसका तीन खून माफ है हर साल भर मा । इ है कि जमींदार होंगे अपने घर में बड़े, मुला रमकिसोरवा केहू से कम नाहीं ना । अब आवै केऊ फौजदारी कै ले, चाहे मुकदमा लड़िले, हां ।'

मैं फौजी छावनी से काका को खत लिखता कि काका तुम्हारा ऐसा सोचना दुर्भाग्यपूर्ण है, पर गांव की सैकड़ों वर्षों की जहालत के सामने सब फिजूल !

उधर चीन से हमारी लड़ाई की सीमा असीम होती गयी । मेरी बटालियन को एक हफ्ते के भीतर नेफा बार्डर पर पहुंचना था । तभी मेरे सामने वही खोसला साहब हाजिर हुए ।

उस दिन उनके चेहरे पर भलमनसाहत्र का मुखौटा चढ़ा हुआ था; पर शीघ्र ही यह मुखौटा उतर गया । खोसला साहब मेरे कर्नल से मिलना चाहते थे ! वे मुझे तीन हजार कमीशन देकर एक लाख कंबलों की सप्लाई का आर्डर प्राप्त करना चाहते थे । उनका मकसद जानते ही मैंने कहा, 'निकल जाइए यहां से, वरना आपकी खैरियत नहीं !'

फिर नेफा बार्डर पर चीनियों का वह आक्रमण । बाप रे बाप ! वह दो दिनों की लगातार लड़ाई ! लड़ते-लड़ते मैं एक संकरी घाटी में अपने कर्नल सहित पच्चीस सिपाहियों के साथ चीनियों से घिर गया । सब मारे गये—बच रहे केवल तीन । लड़ते-लड़ते तीनों एक ऐसे बिंदु पर आये, जहां एक और पहाड़ी नदी थी और दूसरी ओर घना जंगल । मैं, एक सिपाही और कर्नल साहब नदी के किनारे से लटककर छिप गये । करीब पचास चीनी सिपाही वहां दूढ़ते हुए आये और इधर-उधर तितर-बितर होकर घूमने लगे । हम तीनों ने छिपकर फायर शुरू किया । दस लाशों को छोड़कर वे चीनी भागे । युद्ध की समाप्ति पर अगले वर्ष द्वितीय श्रेणी के 'महावीर चक्र' से मैं पुरस्कृत हुआ । और इस बहादुरी, गौरव के साथ जब मैं इसी तरह अपने गांव लौटा था, तब मैं अपने गांव के वातावरण

से दो ही दिन में घबरा गया था। एक जाति का दूसरी से उतना बैर.... गांववालों का ब्लाक डेवलपमेंट वालों से वह भयानक भगड़ा। काका का वह गुस्ता....वह अपराध-भाव, और आदर्श-शून्यता के कारण पूरे गांव का वह विकृत वातावरण। और तीसरे दिन ही मैं गांव से चला गया था—बल्कि भाग आया था और उन्नीस सौ पैसे में फिर वह पाकिस्तानी युद्ध....पहला मोर्चा हाजीपीर में....फिर सियालकोट....फिर युद्ध समाप्त और अब बंगला देश के मुक्ति-संग्राम से वापस।....

नाव उस पार पहुंच गयी। आधी रात अब होने को थी। मल्लाह के सिर पर सामान रखवाये मैं अपने गांव की ओर चला। चांद बिलकुल सिर पर चमक रहा था। पीछे सरजू की बाढ़ के पानी की हरहराहट की गूंज। उसमें भाऊ के जंगल के बीच से हू-हू करती हुई पुरवा हवा। सामने ठाकुर के आम की बगिया आयी। पेड़ों से पक्के आम टपक रहे थे। सियारों का झुंड आमों की दावत उड़ा रहा था। उन्हें देखते ही सियार हुआ-हुआ करने लगे। बगिया पार करके एक मील के बाद उसका गांव आ गया—असमेधू। गांव में पैर रखते ही कुत्ते भौंकने लगे। अपने घर के दरवाजे पर आकर वह चुप खड़ा रह गया। पर कुत्तों का झुंड शोर मचा रहा था। सहसा काका जाग उठे, 'कौन?'

—'मैं हूँ काका, राम-राम....पांव लागी मां !

धीरे-धीरे सारा घर जग गया। लोग रोने लगे। कन्हई की औरत विलाप करने लगी। काका अपनी रुलाई रोकते हुए अजब दर्द-भरे स्वर में राम-राम कहने लगे। आसपास के लोग आकर खड़े हो गये और उसे निहारने-बतियाने लगे।

जिस दिन दिवंगत कन्हई की तेरहवीं का कर्म खत्म हुआ, उसी दिन मैंने काका से पूछा, 'काका, मुझे क्या आज्ञा है?'

काका धीरे-धीरे कहने लगे, 'बात ई है रामकिशोर बेटा, हमारा दहिना हाथ कन्हई बेटा अब नहीं रहा और सारे गांवन मा भयानक

पार्टीबंदी है। हमरे जात होला और जमींदार से पुश्तैनी दुश्मनी है।'

—'मगर क्यों है काका?'

—'है, यही तो बताय रहन है।'

—'मगर क्यों है....यही तो मैं जानना चाहता हूँ।'

काका ने डांट दिया, 'तू क्या समझे?'

फिर वही सदा का सन्नाटा।

काका आगे बोल उठे, 'और जब से गांवन मा ई ग्राम पंचायत आयी है और ऊपर से ई चकबंदी, फिर तो सब जातन मा नफरत कै जहर धुलिंगै। कन्हई कै कतल इसी जहर की कटार से हुआ। अब तू ही बदला ले अपने भाई के खून का।'

—'किससे लू बदला काका?'

—'दुश्मनों से।'

'मगर कैसे? कहां-कहां....किनसे?'

काका आवेश में लाल-पीले होकर भड़क उठे, 'तो औरतों के माफिक जा चूड़ी-चुनरी पहन ले। हमें पहले से ही अगर ई पता होत कि तू पूत नहीं जनाना निकलेगा तो तार मारिकै तुझे नाहीं बुलाइत !'

—'काका....'

—'तू फौज मा कमांडर है....और हमें विश्वास रहा कि तुझे तीन खून माफ है। हमने बुलाया था वही तीन खून करने के लिए।'

—'कौन-कौन काका?'

—'पहला खून जमींदार रमायन सिंह का, दूसरा चकबंदी अफसर का, तीसरा मुमेरू पंडित का....इसी की साजिश से कन्हई का कतल रमायन सिंह ने कराया है।'

यह सब सुनते ही मेरे सिर में अजब ढंग की भनभनाहट होने लगी। एक लंबी फेहरिस्त उन असंख्य नामों की झूलने लगी जिन्हें मारना होगा....असंख्य कत्ल। मैं भागकर घर के अंदर जा घुसा। अपनी पत्नी

से बोला, 'हमारे दोनों लड़के कहां हैं ?'

'बड़ा लड़का परदेशी भैंस चराने गया है। छोटा विदेशी बाजार गया है तम्बाकू लाने।'

—'तो मेरे लड़के पढ़ने नहीं जाते ? मैं उनके लिए अलग से जो पचास रुपये माहवार भेजता था....।'

—'सारा धन काका मुकदमे में भोंकते रहे।' मैं एकटक अपनी पत्नी का मुंह निहारता रहा। पत्नी कहती गयी, 'देवर के कतल के मुकदमे में अब तक तीन हजार से ज्यादा लग गया। एक हजार तो दरोगा ने लिया। नहीं तो मुकदमा ही न चलता। और एक हजार सरकारी वकील ने।'

'बस बस, चुप रहो मनराजी, और कैफियत नहीं चाहिए।'

मैं घर से बाहर निकल आया। दरवाजे के आम के पेड़ के पीछे खड़ा निःशब्द रोने लगा। मन में उन्नीस सौ अड़तालीस से आज तक के एक-एक दिन घुमड़ने लगे। मुझे लगा मैं किसी प्राचीन कथा का अश्वमेध का घोड़ा हूँ...जो इसी असमेधू गांव से छोड़ा गया था आजादी के बाद। वह गांव-गांव, शहर-शहर युद्ध-भूमियों में दौड़ता रहा। उसे किस-किसने नहीं मारा, सेठ बांकुरियामल, प्रिंसपल साहब, दफ्तर के लोग, खोसला साहब, ये तो महज कुछ नाम मात्र हैं....पर सारा समाज...वह पूरा पच्चीस वर्षों का काल....वे सारे दृश्य-अदृश्य चेहरे....वे हाथ....उन हाथों के वे तीर-कमान....जो इस घोड़े पर चलाये गये हैं। और वह अश्वमेध का घोड़ा यानी मैं—रामकिशोर—मानो उसी पेड़ के नीचे लौटकर आ गया है दिग्विजय करके।

उस समय मेरे पैर थर-थर कांप रहे थे। लग रहा था, जैसे तन-मन के असंख्य घाव पुरवइया हवा में फूट पड़े हैं।

जया
नगर



इसका परिणाम यह हुआ कि टेमेरिक्स यूकेलिप्टस और एलेप्पो पाइन जैसे खूबसूरत वृक्ष जो पहले की सड़कों पर वायु के वेग को थामने और धूप को रोकने के लिए लगाए जाते थे, अब ये इधर बिल्कुल खत्म कर दिये गए हैं।

पुरानी सड़कें नगर के पुराने भाग में ही छटती गईं—पेड़, पौधों और हरी-भरी झाड़ियों में सांप, खरगोश, चिड़ियां, सियार, लोमड़ी तथा न जाने कितने जीव-जन्तु—इनकी बोल और संगीत सब।

नया नगर प्रतिदिन पुराने नगर को पीछे छोड़ता हुआ आगे बढ़ता चल रहा है—पश्चिम की ओर जिधर से रेगिस्तानी जमीन की शुरुआत है। बुड्ढे मेयर ने कहा था, हमारा नया नगर महान होगा। उससे भी बुड्ढे राष्ट्रपति ने संदेश दिया था, बढ़ते हुए रेगिस्तान को रोकने के लिए यह नया मार्ग है।

लैन्डस्केप पर बिल्कुल साफ-सुथरी सड़कें बढ़ती गईं और मनुष्य की

अपार शक्ति का निर्माण चिह्न दीखने लगा—सीधे सपाट छः मंजिले आवास भवन के रूप में। कहीं कोई ऐसे पेड़ पौधे नहीं, जिनमें छायाएं हों, या जो कम-से-कम सौ वर्ष तो जियें।

नगर के अकेलेपन और उदासी से भागकर लोग इधर आते हैं, सुने-पन और उजाड़ में उससे मुक्ति पाने के लिए। केवल यही एक रास्ता है। क्योंकि नगर में अब कोई इतिहास नहीं है, न उसे कोई बना ही रहा है। नगर में पिछले कई दशकों से कोई एक भी महान पुरुष नहीं पैदा हुआ। और ऐसे इतिहासहीन स्वप्नहीन लोग नगर से ऊबकर इधर बसते जा रहे हैं। क्यों? यह उन्हें पता नहीं।

वे सब और पुराने नगर के सब लोग सुबह के अखबारों में नित्य वही एक ही बात पढ़ते हैं। अब वे कुछ नया पढ़ना चाहते हैं, पर नहीं मिलता। कभी-कभी यह पढ़ने में जरूर आता है कि रेगिस्तान को रोकने के लिए हमारे मनुष्य पानी की तलाश में हैं। और धरती बहुत गहरे तक बराबर खोदी जा रही है, ताकि एक अच्छी-मजबूत नहर यहाँ से लेकर पूरे रेगिस्तान में दौड़ा दी जाय।

इस नये विकास पर नगर की आर्ट गेलरीज में चित्र देखने को मिलते हैं आयामहीन रचनाएँ। पत्रों में नयी कविताएँ पढ़ने को मिलती हैं—जैसे एक मृत्युमुखी मरीज अस्पताल में पड़ा हुआ नये आने वाले मरीजों से संवाद कर रहा हो। पत्रिकाओं में कहानियाँ पढ़ने को मिलती हैं विविध नारों से जुड़ी हुई निर्जीव रचना के रूप में। इन बासी कहानियों में बेचारा रचनाकार स्वयं फतवा देता है कि इनमें नये नगर के लोगों के जिये हुए क्षण हैं। उनके भोगे हुए बिम्ब हैं। उनके मुक्त और प्रतिबद्ध दिमाग हैं, उनकी अनाहद-शिष्ट बातें हैं।

वाह! मनुष्य कितना बहादुर है!

उससे उसकी कहीं भेंट न हो जाय, इसीलिए वह इस नये नगर में भागकर आया है। उसके पास समय नहीं है कि वह इतिहास की ओर

ध्यान दे। पुराना नगर हर गली-कूचा और सड़क पर इतिहास की याद दिलाता था, बेशर्म। उनमें कितने गहरे-गहरे खड्डे हैं! कितने जीव-जन्तु, अंधेरा और ऊंचाई। पर हमारे पास समय नहीं इन फजूल बातों के लिए। क्योंकि हमारा इतिहास से कोई संबंध नहीं।

लड़के ने उससे कुछ बहुत ही आहिस्ते से कहा और मुस्कराने की कोशिश करने लगा। क्योंकि ऐसी शुरुआत में वह पिछले कितने वर्षों से मुस्कराता रहा है। और वह बहुत ही सफल रहा है।

स्कूल की गगनचुम्बी इमारत के चारों ओर फैले हुए सपाट मैदान को पारकर अब वे दोनों नये बने हुए प्लैटों की कतार को जल्दी-जल्दी पार करने लगे। उनकी परछाइयाँ उनके आमने-सामने चल रही थीं। वे कभी ज्यामित बनातीं, कभी कोण के रूप में सहसा ठहर जातीं।

लड़की का ध्यान सामने के एक मकान की अनगिनत खिड़कियों पर गया। सारी खिड़कियाँ भीतर से बन्द थीं, क्योंकि वे भीतर ही खुलने वाली थीं। उनके भी भीतर मोटे-मोटे पर्दे थे। ताकि बाहर की धूल और रेतकरण कहीं भीतर न चले जाएं। मनुष्य बहादुर थे, क्योंकि वे धूल और रेतकरण से भयभीत थे। पानी का नल टूटकर बह रहा था। लड़की ने झुककर उस पानी की धार में अपनी हथेली डाल दी। लड़का एक बूंद जल लेकर उसे निहारने लगा। लड़की ने सामने खड़े होते हुए कहा; “तुम कितने बच्चे हो!”

लड़का शरमा गया। क्योंकि वह उस झुकी हुई मुद्रा को, कमर से बाँहों में कसकर उसकी उस खुली हुई छवि को चूम नहीं पाया।

लड़के में इस लड़की के प्रति न जाने क्यों एक अपूर्व शालीनता और संभ्रम आ गया था। यह भाव उसके लिए बिल्कुल नया था, क्योंकि ऐसा वह पिछले कितने वर्षों में कभी नहीं था।

साफ़-सुथरी सड़क शुरू हो गई थी। सामने से जैसे सूक्ष्म चित्र की तरह रेगिस्तान चला आ रहा था। सड़क से जैसे एक अयामीन सुर एक-

तारे पर बजता हुआ उस शून्य दिगन्त को चीर देना चाहता था। दोनों उस सड़क के बीचोंबीच चल रहे थे। कभी बीच से दायें बायें बिल्कुल एक निरर्थक चित्र की तरह। लड़का बार-बार कुछ अपनी व्यक्तिगत बातें करना चाह रहा था। पर लड़की उस सुरताल को रौंद देती थी।

पीछे एअरोड्रोम से अभी-अभी उड़ा हुआ 'बोईंगजेट' सूनै आसमान में आकर उनके ऊपर से गुजर गया था। उसकी गूँज चांदनी रात के इस पहले पहर में बहुत देर तक जैसे वहाँ थम गई है।

लड़के ने कहा, "मेरा अनुमान था, यहाँ शून्य में चांदनी अच्छी लगेगी।"

"...पर?" लड़की ने सिर्फ इतना ही योग दिया।

लड़के ने सोचा, चलो शुरू है, कोई बात तो शुरू हुई। वह प्रसन्नता से बोला, "पर बिना किसी छाया के यह चांदनी बिल्कुल अयामीन है!"

"यह कैसा शब्द?"

"बिल्कुल नया गढ़ा हुआ शब्द.....डाइमेन्सन का उल्टा!"

लड़की मुस्करा पड़ी।

लड़के को विजय-सुख मिला।

लड़की ने कहा, "चलो, इस बात पर.....।"

लड़का बोला, "यहाँ नहीं।"

"फिर कहां.....? इससे बढ़कर शान्त निर्विघ्न.....।"

"पर इस सड़क पर कहीं कोई छाया नहीं है, जिसके नीचे.....।"

कंधा झमकाकर लड़की चुप हो गई। बिल्कुल चुप!

दोनों लौटने लगे। सड़क जैसे कोई फलक हो और वे दोनों बिन्दु और शेष सब कुछ साफ-सुथरा।

सड़क पर विजली के खम्भे थे, पर विजली के तार ज़मीन के नीचे थे, ऊपर केवल रोशनी लटकी थी। एक खम्भे का बल्ब बुझ गया था, और उसके आसपास की चांदनी भी जैसे मटमैली हो गई थी। लड़के ने

लड़की से वहीं ज़मीन पर बैठने का आग्रह किया।

लड़की ने कहा, "तुम तो बस अपनी बात करोगे!"

"तुम भी मुझसे अपनी बातें करो।"

"मेरे पास अपनी कोई बात नहीं।"

"तूलियत.....!"

लड़के के मुँह से यह सहज ही फूटा। लड़की ने इस शब्द का अर्थ जानना चाहा। पर हर शब्द के कहां अर्थ होते हैं? पर हर नये शब्द के अर्थ दिये जा सकते हैं। जैसे 'तूलियत' को प्रेम का अर्थबोध। या 'तूलियत' माने खरगोश या अंगूर का गुच्छा।

लड़की का वह सुन्दर तन, वह वक्ष बिल्कुल अंगूर के भरे हुए गुच्छे की तरह था। इसी आश्चर्य भरे सुन्दर ने लड़के को बिल्कुल नया लड़का बना दिया था। और वह जीवन में पहली बार शिशुवत, विनम्र, शालीन, मर्यादित होना चाहता था, क्योंकि इसका संस्कार उसे इस नगर में रहकर घर-परिवार, स्कूल, कालेज, यूनिवर्सिटी और समाज में कहीं से भी नहीं मिला था। वह केवल अब तक जान सका था, नंगापन, सेक्स, क्रोध, अक्लान्ता.....। और उसके नगर के सारे पब्लिक स्कूलों के नाम थे 'क्राइस्ट चर्च', 'मदर मेरी'.....'सेन्ट एंड्रयूज'। उसके नगर के हर चौराहे पर गांधी, तिलक और पटेल की मूर्तियाँ खड़ी थीं। हर बड़ी इमारत के नाम थे, 'निर्माण', 'शिक्षा', 'जीवन-रक्षा', 'विद्याभवन', 'लोकसभा'.....। यहाँ तक कि शमशान भूमियाँ भी महान नाम से विभूषित थीं 'शान्ति-वन' 'सत्य अहिंसा'.....।

वह लड़की तन से जितनी सुन्दर थी, उसका व्यवहार भी उतना ही शिष्ट था। श्रृंगार-वस्त्र पहनने से लेकर उठने, बैठने, बोलने, चलने, खाने-पीने में इतने साफ-सुथरे 'मैनर्स' थे कि गीता के स्थितप्रज्ञ जीवधारी की याद हो आती थी। क्योंकि नगर में पिछले कई दशक से गीता का नाम लिया गया था। 'मेयर' और राष्ट्रपति ने नगर के अपने हर भाषण में

‘संस्कृति’ ‘विकास’ ‘निर्माण’ और ‘महान’ शब्दों के व्यवहार किये थे।

लड़के ने उस लड़की को प्राणप्रिया माना था, और अपने भीतर वह पहली बार अनुभव कर रहा था कि मनुष्य के भीतर सचमुच प्राण होता है। कोई उसका अपना प्रिय होता है, जिसके सामने वह अपने को खोलकर तार-तार कर देता है। इतना विश्वासपात्र, इतना अपना कि उस पर निर्भर कर सके। उस पर अपने सारे छल के दम्भ, अविश्वास और संशय की आहुति चढ़ा सके।

नया नगर पुराने को छोड़ता हुआ आगे बढ़ रहा है। और सामने की मरुभूमि उसके पास आती जा रही है। मनुष्य उस मरुभूमि से लड़ रहा है—उसमें बड़े-बड़े पार्क, भव्य स्कूल, कालेज और गगन-चुम्बी इमारतें बनाकर। मरुभूमि को चीरती हुई एक और साफ-सुथरी सड़क आगे बढ़ रही है। इमारतें वातानुकूलित हो रही हैं, ताकि मरुभूमि इनके भीतर न आ सके। बड़े-बड़े भाषण, संदेश प्रसारित और संवादित हो रहे हैं—पर सड़कें साफ-सुथरी चुपचाप मरुभूमि की ओर बढ़ रही हैं। मनुष्य खिड़कियां बन्द किए इमारतों में पर्दों के पीछे हिसाब और नक्शे बनाने में व्यस्त है कि नगर में अभी कितने पानी की जरूरत है। और उस पानी में से कितना जल रेगिस्तान की नहर में दिया जा सकता है।

दिन था तब। आकाश बादलों से भरा था। दोपहर के वक्त लगता था, जैसे बिल्कुल शाम हो गई है। वे दोनों तब फिर टहलने निकले थे। टहलते-टहलते उस दूर की कालोनी में नये खुले हुए काफी हाउस में गर्म-गर्म काफी पीने की योजना बनी थी।

लड़की बहुत खुश थी। तरह-तरह के विषयों पर भटकी-भटकी बातें कर रही थी। और आसमान के बादल बिल्कुल भुंकते आ रहे थे। लड़का बार-बार सड़क के आसपास देखता कि कहीं कोई ठहराव मिलता, जहाँ वह अपनी इस प्रिया को अंक में उठाए इस सूनेपन से एक चरण के लिए

छिप जाता।

पर वह चारों ओर था—हर होटल, हर घर, और हर सड़क मैदान में। वह सूनापन जैसे मनुष्यों की अपार भीड़ हो, जो शब्दहीन उन्हें निहार रहे हों।

“यह कैसी बात है मेरी, तुलियन” ! लड़के ने बड़े ही निरीह स्वर में कहा, “पुराने नगर की भीड़ में जो सूनापन है, यहाँ इस सूनेपन में नगर की वही भीड़ है।”

लड़की चुप थी।

लड़के ने कहा, “आओ, आज हम अपने-अपने दुखों की बातें करें, ताकि हम उससे मुक्त हो जाएँ।”

“क्या मतलब?” लड़की को बड़ा विस्मय हुआ।

“मतलब....” लड़के ने उसकी आँखों में कहा।

“हम एक-दूसरे को प्राप्त करें...!”

“हम दोनों एक-दूसरे के तो हैं!” लड़की बोली।

“पर यह हमारी अनुभूति होनी चाहिए!”

लड़की मुस्करा पड़ी। लड़का चुप हो गया। बूँदाबाँदी होने लगी। कालोनी सामने थी। काफी हाउस उसके साथ ही था। लड़की भीगने के डर से भागने लगी। लड़का वहीं रुक गया। बड़े ही आर्द्र स्वर में बोला, “आओ, आज हम इस वर्षा में भीगें, खूब भीगें।”

“कालोनी के लोग हमें पागल कहेंगे।”

“आओ हम पागल हो जाएँ।”

“मैं नहीं होती।”

लड़की ने इशारा किया। टैक्सी रुक गई। लड़के को टैक्सी में साग्रह बिठाते हुए उसने कहा, “काफी हाउस....!”

टैक्सी बारिश में चल पड़ी।

नगर की सड़कों पर अब पानी जरा देर भी नहीं रुकता। सब अन्दर-

ही-अन्दर नालियों में चला जाता। नयी इमारतें इतनी उम्दा बनी थीं कि वे छतों के अलावा किसी ओर से भी नहीं भीगतीं। कहीं भी इतने बड़े पेड़, पौधे नहीं, कि हवा उनमें टकराती। चारों ओर बहुत छोटे-छोटे फूल, पौधे थे, जिनसे पता ही नहीं चलता कि ऋतु क्या है !

इस वर्षा से बढ़ते हुए रेगिस्तान को हरा-भरा किया जायेगा। वर्षा का सारा जल नगर के पास एक बड़े जलकुंड में बटोरा जायगा और उसमें मरुभूमि की यह नहर जोड़ दी जायेगी।

काफी हाउस से निकलने पर बाहर की वर्षा थम गई थी। दोनों घर जाने लगे थे। मकानों की मनहूस कतार उनमें से पार हो रही थी। सारे वातावरण में तांबे की एक मटमैली चादर घिरी थी। लड़के की इच्छा हो रही थी, वह हाथ उठाकर तांबे की उस चादर पर खरिया मिट्टी से बड़े-बड़े अक्षरों में लिख दे—तूलियन।

लड़के ने एक नई बात की शुरुआत करनी चाही।

तब लड़की ने धीरे से कहा, “इस नगर में मेरी भी तो मजबूरियां हैं।”

लड़का कहने लगा, “आओ, हम इस नगर की मजबूरियों की बात करें।”

लड़की मुस्कराने को हुई, तो ऐसा लगा, जैसे अभी वह रो देगी।

नगर की सड़कें बिल्कुल सपाट हैं, तभी शायद इतनी साफ-सुथरी हैं। सड़क पर अनायास दूर तक टहलते हुए दोनों अनुभव करते हैं कि वे खुद नगर हैं—अयामीन नगर।

दोनों प्रेमी हैं, पर वे दोस्त नहीं हो सकते।

लड़का विवाह-विज्ञापन-पृष्ठ पर एक स्थान पर पढ़ने लगा, “बहुत ही खूबसूरत, शिष्ट सुसंस्कृत लड़की के लिए एक यथार्थवादी लड़का चाहिए।

शुलभदन



कहाँ वह बस्ती जिला का गाँव जलालपुर, कहीं यह साढ़-आठ सौ मील दूर कलकत्ता ! और कलकत्ते में भी हावड़ा से इतनी दूर सेकरइल का यह चटकल, जूट मिल की यह घनघोर मजदूर बस्ती ।

गोवरधन ने सुबह-ही-सुबह देखा, सामने साक्षात् वही गुलबदन आ खड़ी है । गोवरधन को पहले तो परतीत न हुआ । वह नीचे से ऊपर तक उसे घूर-घूर कर एकटक देखता रहा । लेकिन जब उसने गुलबदनी की वह तलवार छाप बोली सुनी, और मुँह पर हाथ रखकर वह ही-ही, ही-ही वाली बेमतलब की हंसी, तब गोवरधन सिर से पाव तक कांप गया ।

हे भगवान। दइउ का कोप। यह तो गुलबदनी है साली। वही ससुरी गुलबदनी! हे राम!

लकड़ी, माटी और नारियल के पत्तों और पुवाल से बनी हुई यह भोपड़ी। भूप-से आकर गुलबदनी वहाँ बैठ गयी! मुंह पर हाथ रख कर, और गोवरधन पर मारू नजर चलाती हुई, वह फिर हंसने लगी। गोवरधन चुप। होश-हवास मानो गायब।

उसकी नजर में हुगली के किनारे दबी हुई घास-पात की वे असंख्य भोपड़ियाँ, उनमें जानवर की तरह रहने वाले वे मजदूर, उनके भयानक चेहरे, सब कौंध गये। 'हे हो!....हे हो!' कहकर, गुलबदनी अपने पति गोवरधन को संबोधित करने लगी।

गोवरधन क्या बोले? अब कहां भाग कर जाय? गुलबदनी भोपड़ी के दरवाजे पर बाकायदा बैठ गयी है। और वह हंस-हंस कर बताने लगी है, कि वह किस तरह से यहां आयी है। अलगू चमार, हावड़ा स्टेशन का कुली, अपने मुलुक गया था। उसी के साथ जबरदस्ती बेटिकट वह यहां चली आयी। गांव-गढ़ी में सब राजी-खुशी हैं। मुलुक में बड़ी महंगाई है कहीं कोई रोजी-मजूरी नहीं।

'हे हो, तुंहका कौनो मोह-मया नाही बाय का?' गुलबदन यह सवाल करके, फिर चुप हो गयी।

गोवरधन ने तब देखा, उसके आस-पास बहुत-से लोग आ खड़े हुए हैं। कई औरतें और बच्चे, सब प्रश्नभरी आंखें लिये, वहां मौजूद हैं। सब गोवरधन से सवाल-जवाब कर रहे हैं।

गोवरधन के जवाब के पहले गुलबदनी सब को फटाफट बता रही है, कि वह गोवरधन की मेहरारू है। असली व्याहता मेहरारू। कोई भगाई, घर वैठी नहीं।

बेहया की तरह सब बताती हुई गुलबदनी ने जान-बूझ कर अपने सिर से साड़ी का रंगीन आंचल जरा-सा एक तरफ खिसका दिया है, ताकि

सब देख लें उसकी मांग का चटक धनघोर सिद्धर। माथे पर बड़ी-सी लाल टिकुली-लकालक। आंखों में कजरौटा मार्का काजल। और दांतों में मीसी। सब-कुछ भक्कभोर।

गोवरधन सब से बातें करता हुआ, अपनी भोपड़ी से जरा दूर चला गया। लौटा, तो देखा, कि गुलबदनी भोपड़ी के भीतर से चावल-दाल और बटलोई बाहर निकाल कर, चूल्हें में आग जला रही है। और वह कुछ गुनगुना भी रही है ऐसे, कि जैसे वह कितने ही दिनों से यहां की घर-गृहस्थी चला रही थी।

गोवरधन भोपड़ी के सामने चटाई बिछाकर बैठ गया। गुलबदनी ने तब उसके सामने अपनी गठरी खोली। फटे-पुराने कपड़ों का एक छोटा-सा बंडल। उसके भीतर थोड़ा-सा सतुआ, थोड़ा-सा चबैना, और एक कोने में बंधे हुए सिर्फ सात आने पैसे।

'लेव हो भूजा चबैना चबाव न!'

गुलबदनी ने बरबस गोवरधन की बांह में हल्के-से चिकोटी काट ली। और फिर उसकी वही ही-ही वाली हंसी।

गोवरधन मारे गुस्से के जलकर खाक हो रहा था। आज यह परदेश न होता, अपना वही गांव-टोला होता, तो वह गुलबदनी को बताता। मारे डंडों के उसकी पीठ रंग देता। ससुरी की इतनी हिम्मत, कि यहां परदेश में भी न मरने दिया? इतना बड़ा दीदा इस कंटाइन का, कि यहां तक इस तरह चढ़ आयी? मारे गुस्से के गोवरधन ने पूछा—'क्यों, रे, यहां क्यों आयी?'

'हे हो, तुंहसे मिलने!'

'कि मुझे भूजने?'

'हे हो मरदवा सामी, ई कैसन भाखा बोलत हयो?'

गोवरधन ने एक भद्दी-सी गाली दी।

इस पर गुलबदनी हंस पड़ी। गोवरधन के गुस्से में इससे और आग

लगी। उसने एकसुर में कई गालियां दीं गुलबदनी को !

फिर गुलबदनी की वह तलवार चल पड़ी। उसने भी गोवरधन को कई गालियां दीं, धीरे से नहीं, जैसे कि गोवरधन अब तक दे रहा था, बल्कि पूरी आवाज में। और जहां उसकी गाली खत्म हुई, वहां से उसने अपना पैतरा बदलकर, भोपड़ियों के आस-पास खड़े हुए तमाम स्त्री-पुरुषों और बाल-बच्चों को सुनाते हुए कहा—“आवै न मेरी सौत। कहां है वह ? मैं उसी को देखने तो यहां आयी हूँ। मुझे किसी का डर थोड़े न है। मैं कच्चा मास खा जाऊंगी उसका, जो हमारे बीच में बोलेंगा, हां। हम ई सही-सही सब का यही बरे बताय देई थै, हां। हम कौनो ओढ़ारी-भगाई नाहीं न। हमार नाम है गुलबदना।....

गुलबदना ! गुलबदन !

किस औरत को गोवरधन ने एक दिन यह नाम दिया था ? गुलबदन ! तब गोवरधन का गौना नहीं आया था। महज उसने सुन रक्खा था, कि उसकी पत्नी बहुत सुन्दर है। ब्याह तो उसका बचपन में ही हुआ था, जब वह मुश्किल से पांच बरस का रहा होगा।

गोवरधन रासधारी के नाच का नचनियां था। सुन्दर पतला-सा लड़का। यही सत्तरह-अठारह साल की अवस्था। गोरा बदन। लम्बी-लम्बी आंखें। जिस गांव में वह नाचने जाता था, वहां वह जुलुम ढाता था। लड़कियां उसे रूमाल भेंट करतीं। रुपये-पैसे के कितने-कितने इनाम उसे मिलते। नाचता, तो लगता कि बिजली धिरक रही है। गाता, तो लगता कि कोयल कूक रही है।

तभी उसका गौना हुआ था। घूँघट काढ़ कर उसकी दूल्हन उसके घर आयी थी—पैरों में कड़ा-छड़ा छमछमाती हुई। उन्हीं अनदेखे चरणों में गोवरधन ने उसे गुलबदन नाम दिया था। वही गुलबदन कुछ ही दिनों में सहसा अपने असली रूप में उसके सामने प्रगट हुई थी—काली-कलूटी, अत्यन्त कर्कशा। बात-बात में गोवरधन से झड़प। गाली-गलौज। तभी

४६ | डाकू आये थे

गोवरधन का कोमल मन हाहाकार करके टूटा था। तभी एक दिन जब उसने गोवरधन की विधवा मां को गाली दी थी, तब पहली बार गोवरधन ने गुलबदन पर हाथ उठाया था। तब से वह क्रूर अमानवीय इतिहास चालू हुआ था। गुलबदन की ज़हर उगलती हुई बोल, बान मारती हुई उसकी दाख्त हंसी। और गोवरधन की वह मार।

गोवरधन एक दिन गुलबदनी को लेकर अपने पूरे घर से अलग हो गया।

गुलबदन ने तब पहले बच्चे को जन्म दिया। पर बात-बात में उस अबोध बच्चे को टूट-सराप। और उस बच्चे की मौत। फिर गुलबदन को नाम मिला—चुड़ैल ! फिर दूसरे बच्चे का जन्म। इस बार लड़की। गोवरधन ने उस बच्ची का नाम रखा फुलगेंदा। जितना ही गोवरधन अपनी उस बच्ची को प्यार देता, मा उतना ही बच्ची से डाह करती। अपनी करनी पर मा जिस दिन मारी जाती, उसका बदला वह उसी नन्ही बच्ची से उतारतीं। और इस तरह एक दिन वह बच्ची भी उन दोनों के बीच से सदा के लिये चली गयी।

तभी गोवरधन बहुत टूटा गुलबदन से। उसने एक दिन बहुत मारा गुलबदनी को। और उसे घसीटकर वह एक दिन उसके मायके कर आया, उसके मा-बाप को जवाब देकर, कि वह अब इसे अपने घर नहीं रखेगा।

किन्तु इधर गोवरधन अपने घर लौटा, कि पीछे-पीछे वही गुलबदन फिर उसके सामने हाज़िर। गोवरधन उदास हो गया। वह गांव-घर उसे काटने लगा। उसने नाचना-गाना छोड़ दिया। औरत से नाता-रिश्ता खतम। उसने गुलबदन से साफ़ कह दिया, कि वह उसके घर से निकल कर कहीं भी चली जाय। किसी के भी घर जाकर बैठ जाय। कागज़ पर यह सब पूरी बात लिखकर, और उस पर अपना दस्तखत करके, गोवरधन ने उसके हाथ में पकड़ा दिया।

कागज़ को फाड़कर, वह उसी घर में अचल बैठी रही। मौन-

गुलबदन | ४७

चुपचाप ।

गांव में थे एक पुलपुल बाबा । उन्होंने गोवरधन को उस औरत से मुक्ति का एक रास्ता सुझाया । बताया, कि इस औरत को अपने घर से बाहर निकालकर, तुम कुछ दिनों के लिये कहीं परदेश चले जाओ ।

गोवरधन ने तभी पहली बार अपना प्यारा मुलुक छोड़ा था । कल-कत्ते की यही चटकल ! यही सकरइल का प्रेमचन्द जूट मिल । और यही अंधेरी चाल । यही जीवन ।

और वह गुलबदनी अपने घर के बंद दरवाजे पर पाँच दिनों तक बिना अन्न के पड़ी रही ।

न घर, न अन्न ।

उसके नहर के लोग उसे वहां से ले जाने के लिये आये, पर गुलबदनी अपने उस घर के सामने से टस-से-मस न हुई ।

ठीक उसी तरह जैसे वही गुलबदनी आज यहां साढ़े-आठ सौ मील की दूरी तै करके आ बैठी है । गोवरधन उसे देखना नहीं चाह रहा था । पर वह जैसे उसकी आंखों में चुड़ैल की तरह हंस रही है ।

तबे पर रोटी सेंकती हुई, गुलबदनी बड़े मजे से ओठों पर हँसी लिये हुए, गुनगुना रही है :

'भिरभिर-भिरभिर नदी बहत है

भिरभिर बहत बयार,

हे हो हम तुहंसे पूछी

तोहरे जोबना कै कौन सिंगार....'

गाने का यह टुकड़ा गोवरधन का है । उसके उस मशहूर गीत का, जब वह नचनियां था, और जब वह पूर्वी गायन के बीच में यह लटका देता था । एक सवाल । एक जवाब । इसी दौर में जब वह थिरक कर नाचता था, और उस पर रुमाल रुपये-पैसों की वर्षा होती थी । वर्षों बाद वह गुलबदनी खूब जान-बूझ कर उसी गीत-राग को यहां इस तरह छेड़

४८ | डाकू आये थे

रही है ।

इसीलिये वह ससुरी यहां आयी है ।

'भुरभुर-भुरभुर नदी बहत है....' गोवरधन की आंखों में आज आग बरस रही है । चटकल की उस दुनिया में, नईहाटी में, सकरइल के लोगों के बीच । पीछे भागीरथी का अथाह शांत जल है । सामने नारियल और केला बगान । गोवरधन इस सब के बीच मौन चुपचाप बैठा है । और उसकी आंखों से आग बरस रही है । आज न उसे भागीरथी का उतना अथाह जल छू रहा है, न सामने की इतनी अपार हरीतिमा, न उस पर से बह कर आती हुई वह शीतल बयार ।

गोवरधन ने घूर कर गुलबदनी को देखा । उस समय वह रोटी बनाना खत्म करके, चूल्हे पर से दाल की बटलोई उतार रही थी । और उसका खुला कंठ, बांह और पीठ पसीने से भीग उठा था ।

क्वार के दिन हैं ।

तब भी क्वार के ही दिन थे जब पूरे तीन वर्ष बाद गोवरधन अपने मुलुक लौटा था, यह सोचकर कि गुलबदनी अब तक जरूर कहीं बह-बिलाय गयी होगी । तीन वर्ष । उस बीच न कोई चीठी, न पाती, न रुपया, न खर्च ।

गोवरधन ठीक दोपहर के वक्त तब पहली बार अपने गांव लौटा था । गुलबदनी बंद दरवाजे के बाहर ओसार में फटी कथरी पर लेटी पड़ी थी । भूख-प्यास से टूटी और जर्जरित । साड़ी उसकी फटकर तार-तार हो गयी थी । बदन पर झुलवा तक न था ।

गोवरधन को याद आ रहा है । उसने तब एक लात मार कर उसे जगाया था । गुलबदनी ने उठ कर तब जिस तरह करुण आंखों से अपने पति को देखा था, उसे याद करके गोवरधन आज भी सिहर उठता है ।

गोवरधन ने उसे गालियां देते हुए कहा था—“क्यों, रे ससुरी, तुम्हें आज तक और कोई मरद नहीं मिला न ? कौन पूछेगा तुम्हें सुअर को ?”

गुलबदन | ४९

४

तब पहली बार गुलबदनी भोकार छोड़कर रोयी थी और उसने अपना मुँह पीट डाला था। उस तीन वर्ष के लम्बे समय में गुलबदनी किस तरह अपने पति के उस बंद दरवाजे पर भिखारी की तरह पड़ी रह गयी थी, इसकी बावत उसने एक शब्द भी गोवरधन से नहीं कहा। हाँ, उसका कमजोर शरीर और वे धंसी हुई आंखें उस पूरी कथा को जरूर कह रही थीं।

“बेहया ! बेशरम ! चांडालिन कहीं की !”

“कोई भी पुरुष तुम्हें नहीं मिला न !”

गुलबदनी चुपचाप अपने पति का वह मुँह निहारती रह गयी थी।

आज इस चटकल की अंधेरी बस्ती में गोवरधन उसी गुलबदनी का बेशरम कठोर मुँह निहार कर क्रोध से जल-भुन कर खाक हो रहा है।

गोवरधन सोच रहा है—अब वह इस गुलबदनी से भागकर कहाँ जायगा ? किस दुनिया में ?...

चटकल का पहला भोंपू बजने लगा। गोवरधन बेजान-सा वहीं बैठा रहा—जैसे वह भागीरथी के तट पर किसी शमशान-भूमि पर बैठा हो। किसी चिंता के सामने।

गुलबदनी आकर गोवरधन की दायीं बांह में बड़े जोर से गुदगुदाने लगी। गोवरधन अपनी भोपड़ी में भागा। वह हंसती हुई, उसके पीछे-पीछे गयी। भोपड़ी में पति का हाथ पकड़ कर, वह बोली—“हे हो, का मुँह बनाये हया ?”

गोवरधन ने पूछा—“बोल, तू यहाँ क्यों आयी ? तेरी मंशा क्या है ?...बोल, साफ-साफ बता पहले।”

गुलबदनी हंस कर बोली—“चलो उठके पहले खाना खाइ लो।”

“नहीं, पहले बता तू।”

“चली आयी, बस। और क्या कहूँ ?”

छप्पर के नीचे झूलते हुए एक तून को लेकर, गुलबदनी ने उसे अपने

दांतों तले दबा लिया। उसकी दोनों आंखों में आंसू उमड़ आये। तून दांतों के तले कई खंडों में टूट गया।

गोवरधन ने उत्तर की आशा में उसके उसी मुँह की ओर देखा। सारा मुँह आंसुओं से भीगने लगा था। गोवरधन इस त्रियाचरित्र को खूब जानता है। उसने तड़तड़ उसी भीगे मुँह पर मारना शुरू किया और जब वह थक गया, तो वहीं जमीन पर औंधे मुँह लेटकर, वह खुद रोने लगा—चोट खाये हुए निर्दोष शिशु की तरह।

चटकल का दूसरा भोंपू बजा। मजदूर लोग अपनी-अपनी भोपड़ियों में से निकल कर, चटकल की ओर जाने लगे।

गुलबदनी भोपड़ी से बाहर चूल्हे के पास आकर, खड़ी हो गयी। आसमान में एक चील्ह मड़रा रही थी—ठीक उसी के चूल्हे के ऊपर। आस-पास की भोपड़ियों पर कई कौए आकर बैठ गये थे।

थाली में भटपट भोजन परोस कर, वह गोवरधन के पास गयी। उसके सामने थाली रख कर, चुपचाप पंखा झलने लगी।

न जाने क्या सोचकर, गोवरधन ने थोड़ा-सा भोजन किया, और कंधे पर अंगोछा रखकर, तेजी से वह बाहर निकल गया। चटकल की ओर। गुलबदनी भोपड़ी के सामने खड़ी, बहुत देर तक उसी दिशा में देखती रही।

भोजन करके, वह भोपड़ी में बेखबर सो गयी। पिछली दो रातों की वह जगी थी।

उसकी नींद तब टूटी, जब उसकी भोपड़ी के सामने चार कुत्तों की भयानक लड़ाई छिड़ी। बाहर निकल कर, उसने कुत्तों को मार भगाया। उसी समय बगल के घर से एक औरत आयी, और गुलबदन के साथ वहीं बैठकर बातें करने लगी।

वह औरत भागलपुर की थी। जात की घोबिन। यहाँ सुखदेव चमार के साथ घर बैठी है। औरत मरद में बड़ा परेम है। गुलबदन ने देखा,

श्रीरत के बदन पर अच्छे कपड़े हैं, तन पर कई सोने के गहने। मुंह में पान।

गुलबदन एकटक उस श्रीरत को ललचायी हुई नज़र से देखती रही, और अपनी बताती रही—“मुझे ये ज़रा भी नहीं चाहते। चाहते हैं, कि मैं इनके रास्ते से हट जाऊँ। ये सुन्दर हैं। मैं इनके जोग नहीं हूँ। बताओ, इसमें मेरा क्या कसूर? कहते हैं, ‘दुनिया में किसी भी श्रीर मरद का हाथ पकड़ लो तुम।’ बताओ मैं इन्हें छोड़ किस और मरद का हाथ पकड़ूँ?”

भोपड़ी के सामने से उस दिन की धूप मिटने लगी थी। चटकल में भोंपू बज उठा था। गुलबदनी रो-रोकर उस अपरिचित श्रीरत से अपनी व्यथा गा रही थी “एक बार तीन साल तक मुझे तज कर यहाँ परदेश चले आये थे। मैं फिर भी कहीं न गयी। क्या करूँ, बड़ा मोह लगता है मुझे इनसे। तीन साल बाद मुलुक गये और फिर मुझे घर से निकालकर यहाँ चले आये। तब से आज पक्के दो साल बीत गये। पापी जी न माना। पैर उठाये मैं आज यहाँ चली आयी।”

“अच्छा किया!” उस श्रीरत ने गुलबदन को तसल्ली दी।

चटकल से सारे मजदूर अपने-अपने घर आकर भोपड़ियों के सामने बैठ चुके थे। अभी सूरज नहीं डूबा था।

कुछ फ़ासले पर दायीं ओर एक जलपोखर था। चटकल से आकर एक तरफ़ कुछ नौजवान मजदूर उसी पोखर में मछली फँसाने के लिये काँटिया लगाये बैठे थे। दूसरी ओर औरतें बरतन मल रही थीं। गुलबदनी अपने बर्तन लिये, उसी पोखर के किनारे आयी।

अपनी आदत से मजबूर, पोखर के किनारे बरतन रखते ही वह एक औरत से लड़ बैठी।

पोखर के उस पार जो मनचले लोग मछली के शिकार के लिये बैठे थे, उनमें से एक की आवाज आयी—“बच के भइया! गोवरधन रैदास

५२ | डाकू आये थे

की मुराई भइस है। अवध वाली भइस!”

गुलबदन चुकी नहीं। उसने फ़ौरन मज़ाक़ किया—“कमर में जोर होय, तो आवो न मुराई के सामने, नाही तो अपने बहिन के दूध पी आवो न!”

और गुलबदन की वही निश्छल हंसी, जिससे न जाने कब वह गंदला पोखर एक छन में जैसे नये पानी से भर गया। उसमें एक छोर से दूसरे छोर तक लहरें फैल गयीं।

मज़ाक़ करने वाला वह जाति का शहीर था। देवरिया जिले का। गोवरधन का परिचित, हमजोली। उसी चटकल में एक साथ काम करने वाला। जैरतन नाम था उसका। मजा लेने के लिये वह उस पार से इधर चला आया। बोला—“भौजी सुनो। हमरो मुलुक उधरै है—जिला देवरिया, गाँव अहिराना। आज से तू हमार भौजी, हम तोहार देवर!”

गुलबदन ही-ही कर के हँस पड़ी।

जैरतन से अस्कमात गुलबदन की आंख लड़ गयी। एक अद्भुत चितवन, और उस चितवन में एक तेज धार, जो आर-पार बंध गयी।

गुलबदन बर्तन माँज-धो चुकी। पर वह जैरतन को देखती हुई, हंसी चली जा रही थी। और उस हंसी के भोंक से उसका भरा पूरा शरीर कांप-कांप उठता था।

जैरतन उस गदराई हंसी में डूब गया।

गुलबदनी बर्तन उठाये हुए, अपनी भोपड़ी की ओर बढ़ी। आंचल उड़ाती हुई, उसी शोख हंसी को हवा में लुटाती हुई।

जैरतन के मुंह से सिर्फ यही निकला—“हे भगवान!”

वह ठगा-सा वहीं पोखर के किनारे खड़ा रह गया। उसका जी बेतरह धुकपुकाने लगा। उसका तन-मन मानो किसी ज्वार से बहुत दूर तक बह गया।

भोपड़ी के सामने आकर, गुलबदनी ने आसमान की ओर देखा। न

गुलबदन | ५३

जाने कहां से सूने आकाश के पूर्वी कोने में बरसने वाला भरा बादल उठ आया था। सहसा हवा चली।

उसी समय गोवरधन आया।

गुलबदनी ने झटपट भोपड़ी के सामने भीतर से छोटी-सी चारपाई लाकर बिछा दी। गोवरधन चारपाई पर धम्म-से बैठ गया।

गुलबदनी चूल्हा जलाकर, उस पर चाय बनाने लगी। उसी समय वह जैरतन वहाँ आया। गोवरधन ने उसे अपने पास बैठा लिया।

“गोवरधन भाई, देखो न, भोजी तो लाख रुपये की है। मरदवा तू नहीं। ऐसन मेहरारू के छोड़िकै तू कैसे यहाँ-वहाँ परदेश मा तीन-तीन साल पड़ा रहत हो?”

गोवरधन अपनी कड़वी मुस्कान चबा कर बोला—“उजड़ड, गंवार साली! उल्लू कहीं की! इहाँ कौनौ मेहरारू है भला?”

“अरे!”

जैरतन सकपका गया। इस बीच उसके साथ गुलबदनी की आंखें कई बार मिलीं।

गोवरधन बोला—“देखो न, जैरतन, ई साली आज यहां भी फाट पड़ी। मैंने तो, भगवान कसम, इसे छः साल पहले ही छोड़ दिया है। इससे मेरा कोई संबंध नहीं। इसे कब का मैंने जवाब दे दिया है, कि तू कोई और घर कर ले। दुनिया में किसी भी मर्द के संग चली जाय। मुला इसे चाहेगा कौन?”

गुलबदनी इस पर गोवरधन को गाली दे सकती थी, उससे झड़प सकती थी, पर आश्चर्य कि उस छन वह बिल्कुल खामोश रह गयी। जैसे वह वहां मौजूद ही न हो। जैरतन के मुंह पर ताज्जुब की रेखायें उभरी थीं। गुलबदनी गर्दन टेढ़ी कर, उसी मुख को कभी-कभी देख लेती थी!

बर्तन को आंचल से पकड़े हुए, दोनों चाय उसने मर्दों के हाथ में दे दिये। और खुद आंचल उड़ाती हुई, वह कभी भोपड़ी में जाती, कभी

बाहर चूल्हों के पास आकर बैठ जाती।....

लगातार कई दिनों से आसमान में उजले-उजले बादल छाये रहते। जैरतन बीच-बीच में चटकल के काम पर न जाता। वह थोड़ी देर अपनी बीमारी के बहाने पड़ा रहता, फिर पोखर पर जा बैठता। फिर वह गुलबदनी के दरवाजे पर सोपारी-कत्था खाने के लिये आता। और वह हरदम गुलबदनी की हँसी के नशे में डूब-डूब जाता। उस हँसी से हुगली, सकरइल और चटकल के ऊपर छाये हुए धवल बादल रंग से शराबोर हो उठते, भागीरथी का जल हिल उठता।

जैरतन ने मन-ही-मन दुहराया—‘नाम देखो कैसा है, गुलबदन! जैसा शरीर, वैसा नाम। शरीर के रंग से क्या होता है? शरीर गजब का है। चारों ओर उसमें फूल खिले हैं। गोवरधन सब भूठ बकता है। वह मेहरा है, मेहरा! नचनियां था न साला। नमकहराम!...कैसी हँसी है गुलबदन की। गोवरधन कहता है—“इसे हँसी की बीमारी है।” झुट्टा कहीं का!’

जैरतन को गुलबदनी ने आर-पार वेध दिया है। आठों पहर अपलक तिरछे नयनों की चितवन।

और एक दिन अकस्मात इसी चितवन को गोवरधन ने देख लिया। उसमें घृणा, क्रोध, कौतूहल, सारे आकर एक साथ जागे। अपनी पूरी जिन्दगी में उसने कभी भी ऐसा नहीं अनुभव किया था।

वह अपना घूमता हुआ सिर थाम कर बैठ गया। ‘हे भगवान, ई क्या है! ई कैसी विपत्ति?’

आंखों की वह चितवन कभी गोवरधन को चटकल के उस कारखाने में डंसने लगतीं, कभी एकाएक उसकी भोपड़ी के अंधेरे में, कभी पोखर के तट पर, कभी भागीरथी के सूने मैदान में और कभी नारियल तथा केला बगान में। गुलबदनी और जैरतन के वह हंसते हुए मुखड़े उसे हरदम भांक-भांक जाते। ‘जा रे समुरी गुलबदनी, तूने यह क्या किया? और यह

तुम्हें क्या हो गया, रे ससुरा गोवरधन ? यही तो ससुरा तू कब से चाह रहा था न ? पर अब क्या हो गया रे ? मूरख !....दोखी !'

गोवरधन शांति से एक छन भी कहीं नहीं बैठ पाता था । उसे हरदम लगता था, कि उसके चारों ओर वही साली गुलबदनी उसी जैरतन को अपने गुलाबी आंचल से फूल मार रही है । विजयिनी आंखों से चकित कटाक्ष कर रही है और वही व्यंग्य-भरा ठहाका !

एक दिन गोवरधन पागल भालू की तरह गुलबदनी पर फाट पड़ा, और उसके बालों का भौंटा पकड़ कर, खींचता हुआ वह अपनी भोपड़ी में ले आया । कमर पर लात के प्रहार से उसे वहीं नंगी जमीन पर लिटा दिया । उसी हंसने वाले मुख पर थप्पड़ों की बौछार । उसी गदराये हुए शरीर पर लात और डंडे की बेरहम मार ।

सहसा गुलबदनी उसे भाड़कर खड़ी हो गयी, काली नागिन की तरह फन काड़ कर । वह रोयी नहीं । उसकी आंखों में महज आग थी, महज एक धधकती हुई आग । उसकी लपट उस भोपड़ी में कौंध गयी । उसने जीभ लपलपाकर, दोनों हाथों से गोवरधन का गला पकड़ लिया ।

“बोल, मार डालूँ तुम्हें ?”

गुलबदनी के हाथ कांपने लगे । वह घृणा से दूर हटकर, भोपड़ी के एक कोने में जा खड़ी हुई ।

गोवरधन चुपचाप खड़ा था ।

दोनों मूर्तिवत्, खामोश ।

चटकल का पहला भोपू बजा । दूसरा । फिर तीसरा । गरदन टेढ़ी करके, गुलबदनी ने धीमे से कहा—“ये हो, तुम्हीं तो पिछले छः साल से कहते थे, कि मैं इस दुनिया में किसी भी और मरद के संग भाग-बिड़र जाऊँ । बोलो, जवाब दो मुझे ।”

गोवरधन निरुत्तर था । वह भाग कर भोपड़ी के बाहर चला आया । बड़ी देर तक वह अकेले वहीं नंगी खाट पर पड़ा रहा । भोपड़ी के भीतर

से गुलबदन की निःशब्द हलाई उभर-उभर कर गोवरधन को काट रही थी ।

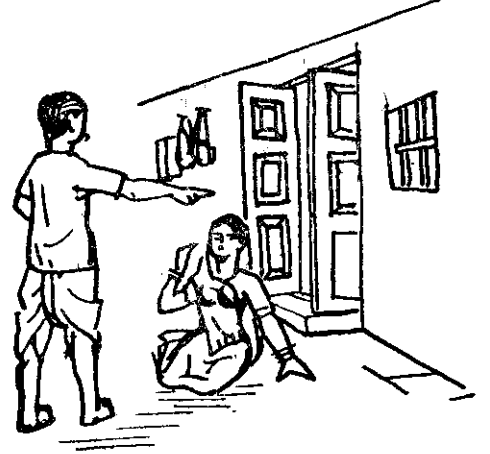
दिन का खाना गोवरधन ने अपने हाथ से बनाया । दाल, भात, रोटी, आलू-बैंगन की मसालेदार तरकारी ।

चमचमाती धुली थाली में गरम-गरम भोजन परोसकर, गोवरधन भीतर भोपड़ी में ले गया । गुलबदन आंखें मूदे चटाई पर पड़ी थी । उसे जगाया, और बहुत धीमे से बोला—“भटपट खाले, हां । चलो आज तुम्हें कलिकत्ता घुमा लाऊँ ।”

गुलबदन ने मान के स्वर में कहा—“ये हो, मैं कहीं नहीं जाऊंगी ।”

और उन भरी आंखों से जब उसने गोवरधन को देखा, तो उस भोपड़ी में लगा, कि कोई गाते-गाते सहसा रो उठा है । भागीरथी के अथाह जल में कोई बहुत बड़ी मछली तड़पी है ।

श्रीवा
जगवास



सब तरफ से हार कर, और पूरी तरह से निराश होकर अंत में पेशकार साहब-मुंशी जानकी प्रसाद ने अपनी खोई हुई पत्नी के लिए एक इशतहारी पर्चा छपवाया ।

सबसे ऊपर मोटे अक्षरों में छापा था—गुमशुदा की तलाश । उसके नीचे धर्मपत्नी का फोटो । और नीचे पत्नी का नाम, श्रीमती सीता देवी, उम्र सत्ताइस साल, रंग सांवला, कद मझोला, छरहरा बदन, नाजनकश खूबसूरत ।

नीचे पूरी इबारत—हे मेरो प्यारी धर्मपत्नी, श्रीमती सीतादेवी, तुम इस दुनिया जहान में जहां कहीं भी हो, तुम्हें मालूम हो कि तुम्हारा अभागा पतिदेव मुंशी जानकी प्रसाद श्रीवास्तव, पेशकार, हाकिम परगना बहादुर तहसील अकबरपुर, जिला फैजाबाद, तुम्हारी याद में दिनरात रोता रहता है। आज एक साल से ज्यादा हो रहा है जबकि तुम इस बदकिस्मतवर को छोड़कर चुपचाप न जाने कहां गायब हो गई। मैंने तब से तुम्हें नाते रिश्तेदारों में, कुर्वजवार में कितना ढूंढा, कितना पता लगाया, मगर तुम मुझे अब तक न मिलीं। मैं अब इश्तहार के जरिए तुमसे हाथ जोड़ कर अर्ज करता हूं कि तुम मुझे माफ करके अब सीधे घर चली आवो। मैं ईश्वर की कसम खाकर कहता हूं कि अब मेरे दिलो दिमाग में कोई मलाल नहीं है। मैंने तुम्हें माफ किया, अब तुम मुझे माफ करो। मैं धर्म से कहता हूं कि अब मैं आइन्दा न तुम्हें बदअल्फाज कहूंगा, न तुम पर कभी अपना यह बदसूलक हाथ उठाऊंगा। मेरी तमाम गलतियों की मुझे जरूरत से ज्यादा सजा मिल गई, अब और सजा मत दो मेरी रानी, मैं तुम्हारे पांव पड़ता हूं। रहम करो मुझ पर। फौरन अब अपने उजड़े हुए घर में लौटकर इसे गुल्जार करो। तुम जहां-कहीं भी हो, मुझे बेखटके खत दो, तार भेजो, मैं तुम्हें ले जाने के लिए फौरन वहां हाजिर हूं। मुझ गरीब पर अब रहम करो मेरी मलका।

तुम्हारा पतिदेव,
मुंशी जानकी प्रसाद, पेशकार हाकिम
परगना, अकबरपुर—स्टेशनवाली गली।
जिला—फैजाबाद

इश्तहार में और सबसे नीचे छपा था मोटे अक्षरों में—जो कोई भी मेरी इस गुमशुदा पत्नी की खोज तलाश करके मुझे दे देगा, मैं उसे सफर किराया के अलावा पांच सौ रुपए तक इनाम दूंगा।

और अन्त में नीचे—श्रीऽ राम जी, सदा सहाय। पेशकार साहब का

यह इश्तहार परगने के मुहर्रिर, अमीन, कुडुकमीन, चपरासी, हरकारा और कानूनगो, लेखपालों और ग्राम पंचायत के प्रधानों के जरिए पूरे फैजाबाद भर के इलाके में जगह-जगह फैल गया। फैजाबाद इलाहाबाद वाली रेल की लाइन, फैजाबाद बनारस वाली लाइन तथा फैजाबाद, मुल्तानपुर प्रतापगढ़ से लखनऊ, जौनपुर जानेवाली रेल लाइनों के सारे स्टेशनों और वर्टिगरूमों में वह इश्तहार रातों रात चिपक गया। सारे बस स्टेशनों और सिनेमाघरों की दीवारों पर भी।

बेचारे पेशकार साहब के घर में और कोई न था। पहली पत्नी का स्वर्गवास ब्याह से दूसरे साल ही हो गया। यह बहुत पहले की बात है। यह दूसरी शादी बहुत-बहुत मजबूरी के बाद उन्होंने आज से सात साल पहले की थी। इससे भी आज तक कोई बाल-बच्चा नहीं।

पेशकारइन खुश थीं। घर में और किसी तरह की कोई कमी न थी। हां, साथी और मुंह बोली की कमी पेशकारइन को जरूर कभी-कभी सालती थी।

सो एक दिन वह भी अकस्मात मिल गया पेशकारइन सीता को। एक अन्हरी औरत—सुरिपा।

जाने कहां से घूमती भटकती हुई वह सुरिपा एक दिन पेशकार साहब के दरवाजे पर आई थी। यही दिसम्बर के दिन थे। उससे एक दिन पहले वर्षा हुई थी। शाम का वक्त। वह पेशकार साहब के मकान के बरामदे की सीढ़ी पर चुपचाप आकर बैठ गई थी। पेशकार साहब कचहरी से तक तब नहीं लौटे थे। बिल्कुल सूना था वह दरवाजा। पेशकारइन पड़ोस में कहीं रामायण के अखंड पाठ में शामिल होने गई थीं। लौटीं तो उस सुरिपा को देखकर सोचा कि कोई भिखारिन है। घर में से भीख लाकर जब वह देने लगी तो, सुरिपा ने कहा था—हम भिखारिन नाहीं न मलकिन। हम हई मजदूर। जात रैदास। मुलुक यही अबध। करम अभागिन....।

सच, बेहद मीठी बोल थी सुरिपा की। बड़ी कोमल जबान। पेश-कराइन का अकेला मन उसी बोल में लपेट उठा।

पेशकार साहब उस दिन काफी रात गए घर लौटे थे। उनके हाकिम परगना साहब ने उन्हें तब तक कचहरी में ही एक जरूरी काम से रोक लिया था। मगर उस दिन सीता को पेशकार साहब की तनिक भी प्रतीक्षा न करनी पड़ी थी बल्कि सीता को उस दिन फुरसत ही न थी। वह सुरिपा से इस तरह घुलमिल कर बातें करती रह गई थी कि वह न जाने कब की बिछुड़ी हुई उस सीता को मिली हो। सीता को उस दिन न भोजन बनाने की सुधि रही, न पति के लिए चाय नाश्ता। बस, वह मंत्रमुग्ध, सुरिपा की बात सुनती रही। उसके अंधी होने की बात। घर और नैहर से टूटने की बात। सारी की सारी बात—बीच-बीच में गीत के दर्द भरे टुकड़ों के साथ।

पेशकार साहब उस दिन बहुत नाराज हुए थे। इतने कि उन्होंने अपनी पत्नी सीता पर हाथ तक उठा दिया था। यह सब पहले की बात है।

उन्हीं दिनों की बात है। पेशकार साहब इसके पर से कहीं गिर गए थे। शरीर भर में दर्द। सुरिपा रात-रात भर पेशकार साहब के बदन की मालिश करती रही।

हर इतवार को पेशकारइन के बदन पर उपटन और तेल। किस्से कहानियां, गीत, भजन के संगीत से वह घर ही नहीं, स्टेशन वाली गली का वह सारा मुहल्ला गुंजने लगा था। और सुरिपा को वह निश्छल, शिशुवत—हंसी जैसे किसी पहाड़ से भरना फूटता हो—वह हंसी।

गर्मियों की बात थी वह। पेशकार साहब ने सुरिपा को कचहरी में हाकिम के कमरे में पंखा खींचने की नौकरी दिला दी थी। वह बरामदे में मूर्तिवान बैठे पंखे की डोर एक गति से खींचती रहती, दूसरी ओर वह पूरे वक्त कुछ न कुछ गुनगुनाती रहती। भजन, ब्याह के गीत, लोरी, सोहर, लचारी, कहरवां, चैती, बारहमासा और न जाने क्या-क्या.....।

६४ | डाकू आये थे

हाकिम परगना साहब के लंच का वक्त हो गया था। साहब भीतर से बाहर आकर सुरिपा के पास आकर एकाएक खड़े हो गए। सुरिपा अपनी धुन में पंखा खींचती हुई धीरे-धीरे गा रही थी—

जतन बताये जइहो रामा
कैसे दिन कटि हैं।

हाकिम को न जाने क्या सूझा। उन्होंने सुरिपा को अपने बंगले पर बुलाया और हाकिम की मेमसाहब ने उसे वहीं अपने पास रख लिया। इधर पेशकारइन की बुरी हालत। बिना सुरिपा के एक छन भी उन्हें चैन नहीं। पर बेचारे पेशकार साहब इसमें क्या करते। हाकिम भगवान की बात। इनके बीच कौन पड़े।

सुरिपा को हाकिम के घर से बुला लेने के सवाल पर पेशकार साहब और उनकी पत्नी में आए दिन झगड़ा होता। गुस्से में कई बार पत्नी पर पेशकार साहब का हाथ भी उठ गया। गाली-गलौच की फिजा। वह शांत सुखी घर अशान्त और दुखी हो गया। और एक दिन गजब हो गया। पेशकारइन सीधे मेमसाहब के बंगले पर गईं। सुरिपा का हाथ पकड़े अपने घर की ओर चलीं। मेमसाहब ने इसका विरोध किया। मेमसाहब और पेशकारइन में तड़ातड़ कई सवाल जवाब हुए। पेशकारइन को किस बात का डर। पचास रुपए रोज की आमदनी है उनके पेशकार मर्द की। तन-ख्वाह ऊपर से। हाकिम को सिर्फ वही तनख्वाह ही तो मिलती है।

मेमसाहब ने अपने साहब के पास चपरासी दौड़ाया। पेशकार साहब से हाकिम ने शिकायत की। पेशकार साहब को काटो तो खून नहीं। वह दौड़े हुए गए। सीता को बेतरह मारा। बीच बचाव में बेचारी सुरिपा भी पिटी। और पेशकार साहब सुरिपा को उसी दम मेम साहब के हवाले कर आए।

रात को घर लौटे तो उसी अशान्त घर में पेशकार साहब के मुंह से यह निकला कि 'जा तू भी इस घर से निकल जा....।

सीता बनवास | ६५

सुबह पेशकार साहब जब सोकर उठे तो उन्होंने देखा—घर सूना पड़ा है। सीता कहीं घर से लापता थीं।

इस अंत की पेशकार साहब ने कभी कल्पना भी न की थी। पेशकार साहब बेहाल होकर अपनी पत्नी की तलाश करने लगे। नाते रिश्तेदारों के बीच छानकर भी उन्हें कोई भी फल न मिला।

और एक दिन जब निराश होकर पेशकार साहब अपने सूने घर में बैठे रो रहे थे, तो उन्होंने देखा, उनके सामने वही सुरिपा आकर खड़ी है। और उन्हें समझा रही है—हे साहेब, रोने से अब क्या होगा। धीरज धरो बाबू। अभाग तो हमार कर्म हैं। जहां पैर रखा वहीं आग लग गई। हे साहेब, ई जिन्दगानी ही ऐसी है। जहां परेम का हाथ फैलाओ, वहीं जिन्दगानी की आग की लपट लगे। विश्वास करो साहेब, बहिन जी उसी परेम से ही रूठ कर कहीं चली गई हैं। बहिन जी मुझ से अक्सर अपनी बातचीत में कहती थीं कि हे हो सूर, औरत को कोई प्यार इज्जत करे तो औरत घायल हिरनी के माफिक क्यों तड़पे? इतनी भूख-प्यास लेकर औरत क्यों जनमती है सूर? आखिर क्यों? विधवा की ऐसी मरजी क्या थी कि उसने मरद औरत को दो आंखों से देखा।

सुरिपा पेशकार साहब के पैताने बैठी उन्हें समझा रही थी। बेहद ममता और स्नेह की बानी में। पेशकार साहब कचहरी से तब समय से घर लौटते थे। कहीं जाना आना नहीं कोई देर सबेर नहीं। स्वयं दोनों वक्त भोजन बनाते। पहले सुरिपा को भोजन करा के तब खुद खाते।

और सुरिपा से वह अक्सर वही एक ही सवाल पूछते थे—सीता कहां होगी? वह क्यों इस तरह भाग गई?

एक दिन सुरिपा ने नया जवाब दिया—सीता को किसने बनवास दिया था साहेब? राम ने या राजा दशरथ ने?

और उसने खुद उत्तर दिया था—सीता को बनवास राम ने दिया, न दशरथ ने। सीता ने खुद बनवास दिया था, राम को पाने के लिए।

६६ | डाकू आये थे

क्योंकि राम ने तो अपनी सीता को अग्नि में डाल दिया था। और वह सीता तो माया थीं। असली सीता तो अग्नि में समा गई थीं। इसलिए बनवास में जाकर उस सीता ने अपने से ही अपने आप को पाया था। एक असली सीता। एक माया सीता। बीच में राम। तभी तो राम अंत में सीता को मिले थे।

कभी-कभी रात-रात भर पेशकार साहब उस सुरिपा से बातें करते रह जाते थे। और उस तरह सुबह हो जाती थी, तब पेशकार साहब को लगता था—उन्होंने रात भर उसी माया सीता को ही देखा है। और तब उन्हें पहली बार बिल्कुल नए अर्थों में यह महसूस होता था कि जो माया है वह असली से, मूल, से कितनी ज्यादा मोहक और खूबसूरत है। यह एहसास उन्हें बहुत-बहुत अच्छा लगता था। तब उन्हें सुरिपा की बात समझ में आती थी कि सीता ने खुद बनवास लिया था, राम को पाने के लिए। और राम ने उस बनवास के बीच पहली बार अपने आप को पाया था। अपने को, यानी सीता को। एक ओर असली, दूसरी ओर माया, बीच में वही राम। और पेशकार साहब अक्सर रात को उठकर स्नान करते और अकेले पूजा के कमरे में जाकर रामचरित मानस का पाठ करने लगते। वही अयोध्याकांड। वही सुन्दरकांड। उनके सामने पत्नी का वही फोटो होता। और वह अनहद स्वर में कहते—मेरी सीता रानी, तुम मुझे माफ करना। अब तो माफ कर दो। मुझे क्या पता था कि तुम दो हो—एक असली और एक माया।

फिर पेशकार साहब ने अंत में हारकर वही इश्तहार निकलवाया था। गुमशुदा की तलाश।

और एक दिन सच निकला कि वह पेशकारइन सचमुच माया थीं। आषाढ़ के दिन थे। सुबह-सुबह पेशकारइन सीता अकबरपुर स्टेशन पर उतर कर सीधे अपने घर आ खड़ी हुईं। पेशकार साहब आश्चर्य-चकित पत्नी का मुंह देखते रह गए। सुरिपा खड़ी खिलखिलाकर हंसती रहीं—वही फूटते

सीता बनवास | ६७

भरनों वाली निश्चल हंसी ।

पेशकारइन ने बताया कि वह भागकर लखनऊ में थीं । अपने नैहर के एक ठाकुर थे—लखनऊ में पुलिस कांस्टबिल । कुछ दिन उनके यहां । फिर एक मास्टराइन के घर भोजन बनाने की नौकरी ।

वाह बनवास वाली सीता ।

पेशकार साहब बहुत खुश थे । । बहुत खुश ।

एक दिन पेशकार साहब ने अपनी पत्नी से कहा—कि सुनो हे, नाते रिश्तेदार, गली मुहल्लेवाले तुम्हारे बारे में तरह-तरह की बातें करते रहते हैं । सो वह मुझे अच्छा नहीं लगता । मुझे पूरा यकीन है, इत्मीनान है कि तुम पवित्र हो, पाक हो, मगर सबका मुंह बंद करने के लिए, मैं सोचता हूँ, तुम अपनी परीक्षा दे डालो । मामूली, यों ही जरा सी बात । क्यों ?

पेशकारइन समझ गई । उन्होंने भट उत्तर दिया—मैं क्यों परीक्षा हूँ, जब आपको मुझ पर यकीन है, इत्मीनान है । फिर वही पुरानी बात....।

पेशकारइन ने अग्नि—आंखों से पेशकार साहब की ओर ताका । दो-चार दिन वह चुप रहे, फिर एक दिन उन्होंने बताना शुरू किया कि उनके बाबा के जमाने में भी ठीक इसी तरह से एक घटना घट चुकी थी । दादी की देवरान घर से कहीं भाग गई थीं । आठवें दिन वह मिलीं । दादी ने तब उनकी परीक्षा ली थी । उनके दाएं हथेली पर आग के दहकते अंगारे रखकर । सबके सामने हथेली पर अंगारा रखा गया । पर हाथ नहीं जला । वह पवित्र हाथ । उस हाथ से तब वह जिस किसी को भी जो उठा कर दे देती, वह उसके लिए अमृत होता ।

पेशकारइन विगड़ खड़ी हुई । यह तो पोंगापंथी की बात है ? मैं क्यों इस तरह से परीक्षा हूँ । मैं तो यह जानती हूँ कि आग का धर्म जलाना है । हाथ जैसा भी हो, वह जलेगा, जरूर जलेगा ।

६८ | डाकू आये थे

—नहीं जलेगा । अगर वह हाथ पवित्र है तो ।

—तो पहले तुम इस तरह अपनी परीक्षा दो ।—पेशकारइन ने कहा ।

—मैं क्यों हूँ ?—पेशकार साहब ने कहा—मैं कहीं इस तरह थोड़े भाग कर गया था ।

—तो इसी बात की तुम पहले परीक्षा दो न, कि तुम कहीं भागकर नहीं गए थे ।

पेशकार साहब चुप । वह पत्नी की परीक्षा लेने के लिए, अपनी परीक्षा में तैयार हो गए ।

आज से ठीक पांचवें दिन मंगलवार आया । उसी दिन पेशकार अपनी हथेली पर आग का दहकता अंगारा रखेंगे । यह तै हो गया ।

इतवार का दिन था । सुबह से ही अपने कमरे में बैठे पेशकार साहब वही रामायण का पाठ कर रहे थे । सुरिपा उनके कमरे के दरवाजे पर मूर्तिवत बैठी थी । उसकी संधी आंखों से रह रहकर आंसू की धारा बह जाती थी ।

संध्या होते-होते पेशकार साहब का वह पाठ समाप्त हुआ । घर में एकदम सन्नाटा । सुरिपा पूरे घर में बहिन जी बहिन जी का नाम लेकर पुकारती रही । कहीं कोई आवाज नहीं ।

वह धीरे-धीरे पेशकार साहब के कमरे में घुसी । टटोलते-टटोलते उसने पेशकार साहब का पलंग पा लिया । उसने छूकर समझा कि पेशकार साहब दिन भर रामायण पाठ से थककर सो गए हैं । पैरों के ऊपर कम्बल को छूकर उसने धीरे से जगाना शुरू किया—हे ! हे साहब, जागो न । एक बात कही । बुरा मत मानो । सुनो । मैं बता रही हूँ साहब, आप अग्नि परीक्षा मत देना साहब । मेरे पेट में अब वह आ गया है । भगवान राम कसम साहब । परीक्षा मत देना, हां ।

पेशकारइन ने आंख खोलकर सुरिपा को देखा । कम्बल के नीचे

सीता बनवास | ६९

पेशकारइन का शरीर जिस तरह कांपने लगा था, उससे कहीं अधिक सुरिपा के दोनों हाथ कमरे की हवा में कांप रहे थे।

वह फिर भुकी। कम्बल पर से हाथ सहलाती हुई उसने बहुत मजबूती से पलंग का दायां पाया पकड़ लिया। फिर वह मुंह ऊपर करके बोली—विश्वास करो साहेब, मैं यह बात किसी से कभी नहीं बताऊँगी।

पेशकारइन ने देखा—सुरिपा का वह जलता हुआ मुंह आंसुओं से अब भीगने लगा था। जैसे प्यासी धरती पर आषाढ़ की पहली धनघोर वर्षा हुई हो।

थोड़ी रात बीतने के बाद पेशकार साहब की आवाज़ घर के आंगने में उभरी। उन्होंने सुना सुरिपा बाहर बरामदे में कहीं बैठी गा रही है। पेशकार साहब अपने कमरे में गए। रोशनी में देखा, सीता कम्बल ओढ़े अब तक पलंग पर पड़ी थी।

—अब तक सो रही हो? लो देखो न, मैं परसों के लिए परसाद लेकर आ गया।

पेशकारइन उठकर बैठ गई। एकटक वह पति के मुंह को निहारती रहीं।

धीरे से बोली—अब वह परीचा नहीं होगी।

—क्यों? आखिर क्यों?

—बस, यों ही।

पेशकारइन के गम्भीर मुंह पर एक मुस्करान रंग उठी। वह पलंग से नीचे उतरकर बड़ी शालीनता से बाहर आंगन में चली गई।

पशुमला



गुरचन्ना ने कभी इसी पाटन के पशु-मेले में एक बड़ी कुश्ती जीती थी। कानपुर की ओर से कोई बड़ा मशहूर पहलवान आया था। गुरचन्ना ने उसे अखाड़े में उतरते ही दे मारा था।

अब इतने वर्षों बाद कानपुर में रस्तोगी कम्पनी की रिकशा डरावरी करने के बाद, जब वह बीमारी की हालत में निःसहाय पाटन लौट रहा था, तो गुरचन्ना को बार-बार उसी पहलवान की याद आ रही थी। भला-सा नाम था उसका....हाँ, सितारेजवाँ सिंह ही तो नाम था उसका। खूब गद्देदार बदन थी उसकी।

रस्तोगी कम्पनी की जीप ने उसे पाटन के सिवान पर उतार दिया था। अब उसे इतनी दूर गांव तक पैदल ही जाना था। पर उससे क्या इतनी दूर चला जायेगा? वह सूनी, पथरायी आंखों से पाटन गांव को देख रहा था। उसे लग रहा था, कि वह कहीं भटक कर अज्ञान परदेश में घुस आया है। उसने तब पाटन के मेले के उस बड़े-से मैदान को देखकर पहचाना, कि यह उसी की मातृभूमि है। तब उसे एक दूसरी याद आयी: इसी पाटन में व्दार-कार्तिक का मेला। सब तरह के पशुओं से मेला तब खचाखच भरा था। तब उसी मेले की फिलिम बनने जा रही थी। किसी मसखरे ने मेले में यह बात उड़ा दी थी, कि जिस किसी की तस्वीर उस फिलिम में आ जायेगी, वह जवान हो जायेगा—चाहे वह आदमी हो, चाहे पशु। फिर क्या था, मेले भर में राजब का हुड़दंग मच गया था। पशुओं से दबकर सात आदमी मरे थे, और आदमियों से तीन पशु कुचल गये थे। गुरचन्ना को सब याद है। पशुओं और आदमियों की लाशें एक ही ट्रक में लादी गयी थीं, और वह ट्रक जिला शहर की ओर गयी थी।

गुरचन्ना जब अपने गांव में घुसा, तो उसे कोई न पहचान सका। सिर्फ जान हलालखोर के उस मरचुक कूकुर ने उसे देखकर भूंकना शुरू किया था। तब गुरचन्ना को हँसी आ गयी थी। उस हँसी से कूकुर और भी ज्यादा भड़का था। और वह अभी तक जहां कहीं भी गुरचन्ना को देखता है, बस भूंकने लगता है।

गांव में किसी ने गुरचन्ना से मजाक किया—“क्यों, पहलवान, बिना मौसम-महीना ही गांव लौटि आये?”

उत्तर में गुरचन्ना मुस्करा कर रह गया। उसे याद आया, कि इसी तरह बेमौसम उन्नीस सौ बावन में इसी पाटन क्षेत्र में तब बहुत-सी ट्रकें आयी थीं। कुछ ट्रकों में भंडा लिये आदमी लोग खड़े थे, और कुछ में सामान लदा था। एक ओर गान्ही पार्टी दूसरी ओर इन्किलाब जिन्दा-बाद। एक से एक बढ़कर हरिकीर्तन पाल्टी आयी थी बाहर से। गांव के

७४ | डाकू आये थे

लोग उचक-उचक कर इन्किलाबी लोगों को पहचान रहे थे—जिला के सबसे बड़का वकील, बाबू धनुखधारी सिंह, राजा साहब पिपरीपुर के छोटे भाई लाल साहेब, और मायघाट बाजार का वही ठीकेदार, जो हर साल पाटन के पशु मेले का ठीका लेता है।

दूसरी ओर गान्ही टोपी लगाये, पहली बार वहीं बैजनाथ बाबू आये थे, जिन्होंने आजादी की लड़ाई में आधी जिन्दगी जेल में काटी थी।

“कैसी आजादी भइया?”

किसी के उकसाने से तब गुरचन्ना ने उस भारी मिटिंग में यह पूछा था। तब गुरचन्ना की यही जवानी चढ़ रही थी। पढ़ा-लिखा वह एक अक्षर भी न था। बस, पहलवानी करता था। भैंस चराता था। सिर्फ चार बीघे खेत थे। उनकी जोताई-बोआई गुरचन्ना के काका करते थे। घर छप्पर का था। और उस घर में गुरचन्ना की बूढ़ी मा रहती थी।

ये सब पहले की बातें हैं—उस समय की, जब कि, इन्किलाबियों और गान्ही पार्टी के उस मेले में पाटन के लोगों ने पहली बार चाय पी थी, जब पहली बार गांव-गांव में गैस की बलियां जली थीं, जब लोगों ने जाना था, कि जाड़े में इतने सारे कपड़े पहने जाते हैं—गर्मी के कपड़े और जाड़े के कपड़े और—जब पहली बार गांव वालों के सामने सफेद कपड़ा पहने हुए भइया, बाबू, महाराज ठीकेदार, वकील, हाकिम, मुस्तार लोगों ने हाथ जोड़े थे, और पाटन के लोगों को पहली बार पता चला था, कि वे आदमी नहीं, भोटर हैं, और भोटर कितना अच्छा होता है। उस साल जब उधर जितने नये बच्चे पैदा हुए थे, उनमें से बहुतों के नाम तब रखे गये थे भोटू, भट्टरी, भोटे, भटुक, भोटर। यह सब उसी समय की बातें हैं, जब गुरचन्ना ने एक दिन हंसी-हंसी में अपनी माई से कहा था, कि “माई रे, जब मोर वियाह होई न, और मोरे बेटवा होई, तब मैं ओकर नाव भोटिया रखबूँ।”

गुरचन्ना की मा बहुत हंसी थी तब। और आंचल पसार कर, तब

पशु मेला | ७५

उसने सूरज बाबा की ओर देखा था। यह सब तभी की बातें हैं।

और अब वही गुरचन्ना पूरे सात साल बाद कानपुर शहर से लौटा है। गाड़ी मोटर से नहीं, रस्तोगी कम्पनी की जीप से। जीप ने उसे पाटन गांव के सिवान पर छोड़ दिया था, और वह इतनी दूर बहुत मुश्किल से चलकर अपने गांव आया था। गांव वाले गुरचन्ना को पहचान नहीं पाये कि यह कौन है। क्योंकि रस्तोगी कम्पनी के सिपाही जब उसे जीप में बैठा कर कानपुर ले गये थे, तब गुरचन्ना जवान था, और अब वही बुढ़ा होकर लौटा है। कोरे लट्ठे का पजामा पहने है, गुदड़ी बाजार की मिलिट्री कमीज। दाढ़ी-मोँछ सफ़ेद वालों से पट चुकी है। लगता है, कि वह बुढ़ा ही नहीं, बीमार भी है। हंस्ता है, तो कैसा डर लगता है उसके चेहरे को देखकर। धंसी हुई पीली-पीली आंखें। गेहूंआ रंग इस तरह खाक-स्याह हो गया है; जैसे पूस माह में गेहूं की जवान फसल पर सहसा पाला पड़ गया हो।

पाटन गांव में अब उसके घर के खंडहर पर गांधी चबूतरा बन गया है। ग्राम पंचायत के प्रमुख ने कहा, कि किसे पता था, कि गुरचन्ना अब पाटन गांव लौटेगा। ठीक बात है। गुरचन्ना कानपुर में सात साल रिक्सा चलाकर बहुत बड़ी दुनिया देख कर लौटा है। वह पल-पल पर बीड़ी दागता है, और बीच-बीच में अड़वी-तड़वी बोल बैठता है। गांधी चबूतरे पर बैठ कर, वह अकस्मात खड़खड़ाकर हंसा था। जैसे उसके कंकाल में किसी ने कंकड़ दे मारा हो।

संध्या समय गुरचन्ना बड़े ठाकुर के दरवाजे के सामने महुए के पेड़ के नीचे जा बैठा। रघुराज चौधरी भुकी कमर लिये, लाठी टेकते हुए उसके पास आये, और बिलकुल उसके मुंह के पास आंख पसारकर एकटक देखने लगे। फिर चौधरी के कलेजे के पात हिल गये। मुख की भुरियां भीग गयीं। धीरे से पूछा—“बेटवा, रस्तोगी कम्पनी से तो छुट्टी मिलि गै न ?”

गुरचन्ना ने अपनी धंसी हुई आंखों से रघुराज बाबा को देखा। उस मुर्दा चितवन से चौधरी बाबा कांप गये।

गुरचन्ना को हंसी आ रही है। जिस घड़ी से उसने अपने इस गांव में पैर रखा है, जान् हलालखोर का मरचुक कूकुर उसे देख-देख कर भूंक रहा है। गुरचन्ना को धीरे-धीरे याद आया, कि यह उसी का पाला हुआ पिल्ला है। उसके काका का तब स्वर्गवास हुआ था। यह पिल्ला उसे पाटन के पशु मेले में मिला था। उसने तब इसी का नाम रखा था भोटिया। उसने भोटिया नाम लेकर उसे पुचकारा। कुत्ते का भूंकना यकायक रुक गया। उसकी पूंछ हिली, और वह सहमा-सहमा-सा उसके पास आ खड़ा हुआ। गुरचन्ना ने बांह बढ़ाकर उसे पकड़ लिया, और उसका मुंह चूमने लगा।

गुरचन्ना को तब बहुत-सी बातें याद आयीं। तब उस पहले मेले में इन्कलावियों की हार हुई थी। सब ने गान्धी बाबा को भोट दिया था। बैजनाथ बाबू दिल्ली के पालियामेन्ट हुए थे, और जिला शहर के किरानी साहेब लखनऊ के असम्बली हुए थे। तब उसके बाद से पाटन के पशु मेले का सारा ठाट-बाट ही बदल गया था। पहले दिन पशु मेले का उद्घाटन होता था। शहर से वहाँ तम्बू-कनात आये थे। मेले भर में शोर हुआ कि, अब की गान्धी पार्टी नहीं, चाय पार्टी आयी है। पशु लोग तो मेले में खूंटों से बंधे थे। हां, मेले के आदमी लोग तंबू के चारों ओर चाय पार्टी देखने लगे थे। तब अच्छे-अच्छे पशुओं को इनाम मिले थे, और पशुओं को भाषण दिये गये थे। उसके अगले साल गायघाट के ठीकेदार साहब को पशु मेले का ठीका नहीं मिला था। नया ठीका मिला था बाबू जालिम सिंह को। वही जालिम सिंह, जिन्होंने तब गान्धी की सारी जिम्मेदारी ली थी। फिर मुकदमेवाजी और फौजदारी शुरू हुई थी—बड़े-बड़े लोगों के इशारों से। पाटन के पशु मेले में खूब धूल उड़ती थी। गांव से शहर, शहर से गांव खूब भगदड़ मची थी। तब सांड सांड से लड़ते थे। इतना ही नहीं, भैंस गाय से लड़ती थीं, और सुन्नर भेड़-बकरी से।

ट्रक पर लदे हुए उम्दा नस्ल के पशु उस मेले में लाये जाते थे। और पाटन क्षेत्र के लोगों को बताया जाता था, कि उम्दा चारा और ताकतवर खुराक किसे कहते हैं। मगर तब तक गांव वालों को चाय पीने की आदत पड़ चुकी थी। गेहूँ बेचकर चाय की पत्ती लाते थे, और घी-दूध बेचकर चीनी। और वे लोटे में चाय पीते हुए, गान्धी पार्टी और इन्कलाबियों की बातों में रस लेने लगे थे।

गुरचन्ना आज ठाकुर के महुए के पेड़ के नीचे बैठा हुआ, फागुन की धूप ले रहा है। चार घड़ी दिन चढ़ आया है। लगता है, कि फागुन बीत जायेगा, गांव की कोई औरत उस पर रंग नहीं डालेगी। अरे भाई, कोई कीचड़-गोबर ही डाल दे।

“बोल कबीर आरा-रा-रा-रा-SS-SS-SS—”

गुरचन्ना उसी महुए के नीचे एकाएक खड़ा हो जाता है। उसकी दोनों सुखी बांहें हवा में कांप रही हैं। उसकी वह बोल गांव की सूनी गलियों से चुपचाप लौट आती है। उससे अब खड़ा नहीं रहा जाता। आंख के आगे चिनगारियाँ फूट रही हैं। वह अपने को संभालता हुआ, वहां बैठ जाता है। महुए के नीचे धूप तेज हो रही है। गुरचन्ना अपनी गुदड़ी वाली कमीज टटोलता है। बीड़ी नहीं है। चीकट कमीज के नीचे कुछ बहुत तेजी से खुजलाने लगता है। वह कमीज उतार देता है। बदन में धूप लगती है। छाती, बांह, पेट पर चुनचुनाहट होती है। वह तेजी से खुजलाने लगता है। जहां-जहां वह तेज नाखूनों से खुजलाता है; वहां-वहां सफेद धारी पड़ जाती है। जैसे बंजर धरती पर किसी ने जवरन हल चलाये हों। फिर वह अपनी कमीज उलटता है, और उसमें से चीलर बीन-बीन कर मारने लगता है। चीलर मारते-मारते उसे लगता है, जैसे वे पशु हों, जो उसके सुखे शरीर की बंजर धरती पर दिन-रात हल चलाते हों। वह कमीज उठाकर धूप में फैला देता है, और देखने लगता है, कि उसकी कमीज पर असंख्य पशु दौड़ रहे हैं। वह किसी पशु को मार नहीं पाता। पशुओं से

७८ | डाकू आये थे

जैसे वह खुद गिर गया हो। फिर वह वहाँ से पाटनपुर का सिवान देखने लगता है। गांव के लोग अपने छोटे-छोटे खेतों में घर और घूर की खाद डाल रहे हैं। मगर बड़े-बड़े खेत अभी तक वीरान पड़े हैं। जमींदारी कभी की टूट चुकी है। पर बड़े-बड़े खेत अभी तक जमींदारों के हैं, जो हल को छूना तक पाप समझते हैं।

पाटन क्षेत्र का वह दूसरा मेला उलटा था। उसमें सब-कुछ उलट-पलट गया था। लोग कुछ नहीं समझ पा रहे थे, कि यह सब क्या हो गया। जो तब साइकिलों पर आये थे, वे अब जीप और ट्रक में आये थे। जो तब गान्धी बाबा को गाली दे रहे थे, वे अब अब गान्धी तम्बू में बैठ कर इन्कलाबी लोगों की खबर ले रहे थे। पता नहीं कैसे, उस दूसरे मेले में सब-कुछ गड़-मड़ हो गया था। गायघाट का ठीकेदार अब गान्धी टोपी पहने था। और गान्धी चबूतरे के तुलसीराम के सिर पर पीली टोपी पता नहीं कहां से आ गयी। लोग तम्बुओं में जा-जाकर पहचान रहे थे, कि लोग तो वही हैं, मुला उनकी टोपियां कैसे बदल गयीं? जरूर कहीं किसी मेले में भगदड़ मची होगी। फिर हड़बड़ाहट में ही वे टोपियां बदल गई होंगी। एक ओर हैं सब रंगीन टोपियां—काली, लाल और पीली। दूसरी ओर हैं—वही सफेद। इस बार हरि कीर्तन और रामायण-पाठ, दोनों मिल गये थे। गान्धी का भजन फीका पड़ गया था। पाटन का क्षेत्र इस बार धर्म और ईश्वर की शरण में गया था।

महुए के पेड़ के नीचे सूरज ढल रहा है। गुरचन्ना आज चमरटोलिया में जाकर सुदीहल चमार के यहां खाना खा आया है। सारा चौधरियान, बाभन, ठाकुर, लाला बाबू गुरचन्ना पर नाराज हैं—साला गुरचन्ना वह गया!

ग्राम पंचायत के अदालत सरपंच साहब ने सुदीहल चमार को धर पकड़वाया है।

“क्यों, बे चमार की जात, तूने गुरचन्ना का धरम-ईमान क्यों

पशु मेला | ७९

लूटा ?”

“दोहाई धरमावतार की ! मैंने कुछ नहीं किया । गुरचन्ना खुद हमारे घर में घुसा । बोला, दो दिन से खाना नहीं मिला है । सरकार, मैं क्या करता ?”

“क्यों, वे गुरचन्ना, तुझे अपने धरम-ईमान का ख्याल नहीं ?”

गुरचन्ना मुस्कराया । बोला—“खड़ा होकर जवाब दूँ, या बैठकर ?”

“बकवास करता है ? तमीज से बातें कर ।”

“क्या कहा ? कमीज से बातें करूँ ! अजी, मेरी कमीज में तो चीलर पड़ गया है !”

“चुप रह, साले कही का !”

आखिर सरपंच साहेब पहले के वही जमीदार ही तो थे । गान्ही टोपी पहनने से ऐसा क्या फर्क पड़ता है ? लोग गुरचन्ना को भद्दी-भद्दी गालियाँ देते ।

फिर गुरचन्ना बोला—“अजी, आप इतिमान से गालियाँ दे लीजिये । फिर मैं जवाब दूँ ।”

“हां-हां, बोल ।”

“सुनिये, साहेब । कहीं भूखे गरीब का भी ईमान-धरम होता है ? यह पहले बताइये मुझे ।”

सरपंच साहेब बोले—“अबे इतना बड़ा पाटन क्षेत्र क्या भूखान-गरीब नहीं है ? पर कोई तेरी तरह गिरा है ?”

गुरचन्ना मुस्करा कर रह गया । सोचा, ‘फजूल में बात बढ़ जायेगी । क्या फायदा ?’ बातें बढ़ा-बढ़ाकर देख ली है उसने पहले इसी गांव में काका की मृत्यु के बाद । तब अलानाहक इसी सरपंच के उकसाने से दुलारे चाचा ने उस पर फौजदारी और दुरुस्ती जमान्दी के दो मुकदमे किये थे । वैर था उसी भोट का, उन्हीं रंग-विरंगी टोपियों का । पशु रंगीन कपड़ा देखकर भड़कता है न, बल्कि डरता है, क्योंकि वह समझ नहीं पाता कि

८० | डाकू आये थे

वह रंग क्या है । वही बात बढ़ते-बढ़ते वह रस्तोगी कम्पनी में फँसकर कानपुर गया । रेक्सा चलाया । बातें उस रेक्सा डरावरी में भी बहुत बढ़ती थीं । एक से एक जन्टूलमैन, और हीरो बाबू लोग रेक्सा पर बैठते । किराया देते समय जैसे वही उनके मुंह से कच्ची-पक्की निकलती, बात फौरन बढ़ जाती । पर सब बतबढ़ाई से हमेशा नुकसान इसी गुरचन्ना का ही हुआ है ।

सो अदालत सरपंच की सारी बात पीकर, वह वहां से हट गया । खलिहान में छोटा-सा पुआल का गांज था किसी का । गुरचन्ना उसी पुआल पर जाकर लेट गया ।

जिसमें धरम और ईश्वर नहीं है, वह बेमतलब है, फजूल है । गुरचन्ना पुआल पर लेटे-लेटे सुन रहा था । गांव के दो आदमी उसी खलिहान के पास से धर्म की ये बातें करते चले जा रहे थे । गुरचन्ना को लगा, कि नीचे पुआल में सुअर लोट रहे हैं । किसी कीचड़-मैला में लोटने के बाद वे अब उसी पुआल में लोट-लोटकर अपना बदन खुजला रहे हैं ।

पाटन के पशु मेले में भेड़ों की लड़ाई होती है । भैंसों का विकट युद्ध होता है । बैल लड़ाये जाते हैं । पशुओं की लड़ाई में पशुओं की मौत तक हो जाती है । फिर वही हार-जीत का युद्ध मनुष्यों में घुस जाता है । फिर होते हैं कतल । थाना, पुलिस, फिर सेशन । दिल्ली, लखनऊ इसी पशु मेले में अपने खेल दिखाते हैं ।

गुरचन्ना उसी पुआल में सिर छिपाकर सो गया है, और देखता है कि सात लाख पशु एक ओर खड़े हैं, दूसरी ओर हैं अस्सी हजार । उन पशुओं में तब सबसे बड़ा बलवान पशु चुना जाता है । उस पशु की तब पूजा होती है । और बताया जाता है, कि बलवान पशु के लिये नयी से नयी नस्ल चाहिये । अच्छी खेती और उत्तम पैदावार के लिये बलवान पशु की जरूरत होती है ।

पाटन के पशु मेले में पशुओं की क्रीममें बहुत बढ़ गयी है । कृषि-

पशु मेला | ८१

प्रधान देश है न यह। और पशु भी अब बलवान हो गये हैं। इसीलिये पशु की कीमतें अब बहुत बढ़ गयी हैं। वे ट्रकों पर लद कर अब पाटन क्षेत्र से बाहर जा रहे हैं—धनबाद और भरिया की कोयिलारी में, बम्बई के छापेखाने में, कलकत्ते की जूट मिलों में, दिल्ली और कानपुर की भुगियों में।

ऐसी दशा में कानपुर की वह रस्तोगी कम्पनी पाटन क्षेत्र में आयी थी। पहले कम्पनी के रिसर्च अफसर आये थे। उन्होंने लेखा-जोखा ठीक किया था, कि पाटन क्षेत्र में नब्बे प्रतिशत छप्पर गांव हैं। इन गांवों में प्वाइंट छः प्रतिशत आदमी सिर्फ दस्तखत कर सकते हैं, शेष सब वही अंगूठा छाप। डरपोक, जाहिल, ट्रकों पर लद जाने लायक। चार सिपाही, एक मुनीम पांच-पांच गांवों में एक साथ फेरा लगाते हैं। भाषण देता है कम्पनी का एक सिपाही। वही फिल्म का रेकार्ड लगाकर गांव वालों को एक जगह इकट्ठा करता है। फिर वही शर्त और नियम-कायदे बताता है। जिसे जरूरत हो, वह कर्ज ले। दस महीने की क्रिस्त। दस रुपये कर्ज, तो मिलेगा सिर्फ सात रुपये छः आने। अंगूठा लगाओ उसी दस ही रुपये पर। सौ रुपये लेना है, तो मिलेगा पंचानवे रुपये चौदह आने। अंगूठा लगेगा एक सौ तीस रुपये पर। और क्रिस्त होगी हर महीने सिर्फ तेरह रुपये की। महीने में क्रिस्त न अदा हुई, तो कोई बात नहीं। बचे हुए रुपयों पर सिर्फ दो पैसा फ्री रुपया महीना सूद।

गुरचन्ना ने तब इसी रस्तोगी कम्पनी से पांच सौ रुपये उधार लिये थे। उस समय मां मरी थी। उसका क्रिया-करम करना था। और उधर उसके उन्हीं कुल चार बीघे खेत की दुख्खती जमाबन्दी का मुकदमा तहसील के इजलास से हारकर डिप्टी के यहां गया था।

हर महीने पैसठ रुपये की क्रिस्त। कहां से आयें पाटन में पैसठ रुपये हर महीने। रस्तोगी कम्पनी के दो सिपाही सांड की तरह उसके दरवाजे पर आ बैठते थे। पहले दरवाजे पर डंडे पटकते थे, फिर उलटी-

सीधी जबान में बोलना शुरू कर देते थे। रस्तोगी कम्पनी के सिपाहियों से सवाल-जवाब करने की हिम्मत अब पाटन में नहीं रह गयी थी। एक से एक हिस्ट्रीशीटर सिपाही चुन-चुन कर रखे थे रस्तोगी कम्पनी ने। क्रिस्त अदायगी का फ्री रुपया दो पैसा हर महीना के हिसाब से सूद अलग बढ़ता रहा। और उस पर मूलधन तो था ही। एक दिन गुरचन्ना रस्तोगी कम्पनी के मैनेजर के कदमों पर गिर कर रो पड़ा। मैनेजर को दया आ गयी। उन्होंने कहा—“अच्छा, चल हेडक्वार्टर के रिक्बरी डिपार्टमेंट—यानी कानपुर में। वहां तुम्हें कम्पनी एक रिक्शा देगी। वही रिक्शा चला-चला कर तुम्हें कम्पनी के सूद-मूल को चुकता करना होगा।”

तभी गुरचन्ना को कम्पनी की जीप गांव से बाहर ले गयी थी। और अब वही गुरचन्ना सात साल बाद कानपुर से वापस गांव भेज दिया गया है, तन्दुरुस्ती ठीक करने के लिये। अभी भी कम्पनी के गुरचन्ना पर तीन सौ रुपये साठ नये पैसे बाकी हैं। गांव में रह कर जब उसकी तन्दुरुस्ती ठीक हो जायेगी तब फिर उसे कम्पनी के सिपाही कानपुर ले जायेंगे। और वह फिर वही रिक्शा चलायेगा।

गुरचन्ना उसी पुआल के गांज पर बैठा हुआ, गाली दे रहा है—पता नहीं, किसको। जिसका वह पुआल है, वह गुरचन्ना को कितनी ही बार मना कर चुका है, कि वह उसके पुआल पर न बैठे। पर अब वह उसी पुआल पर ही रहता है। वह कहता है—“मेरे घर के खंडहर पर गान्धी माई का चबूतरा बना रखा है पाटन वालों ने। अब यह पुआल मेरा दराइंग-रूम है। आये कोई साला—हटाये मुझे यहां से!” पर गांव में गुरचन्ना को छुए कौन। सब तरह की तो बीमारी है उसमें। दूर से ही तो वह बदबू करता है।....

क्वार का महीना अब शुरू हो रहा है। दूर-दूर के पशु पाटन के पशु मेले में आने लगे हैं। ट्रकों पर अच्छी नस्ल के पशु न जाने किधर ले जाये जा रहे हैं। पशुओं के मुंह बंधे हैं। वे सिर्फ ताकते रह जाते हैं।

लगता है, अब यह पशु मेला दूर-दूर तक लगेगा। गुरचन्ना उसी पुआल पर बैठा, निरख रहा है। काफी बड़ी संख्या में तरह-तरह के पशु ट्रकों में लदे हुए, मेले से सड़क की ओर चले जा रहे हैं। सब पशुओं के मुंह बंधे हैं। कोई कुछ नहीं बोल रहा है। सिर्फ पीछे मेले में पशुओं का शोर उठ रहा है। गुरचन्ना अब समझ रहा है—इनमें से छोटे पशु तो शहर में खाने के काम में आयेंगे। कुछ बड़े-बड़े पशु दिखाने के लिये दिल्ली, लखनऊ में रखे जायेंगे। शेष पशुओं की जिन्दा खाल उतारी जायगी। असली मजबूत जूते, अटैची, बैग, पोर्टफोलियो इन्हीं की जवान खाल से बनाये जायेंगे।

पशुओं के बड़े डॉक्टर पाटन आये हैं। जिस पुआल गांज पर गुरचन्ना मरा है, वह अब पशुओं के खाने लायक नहीं रहा।

मदई माई



इसी नदी में डूब कर माई मरी थी। गांव को छू कर फिर तिरछे पूरब की ओर कटाव करके बह जाने वाली मनोरमा नदी। गांव के इसी ऊंचे कगार से मुंह पर आंचर बांध कर माई इसी नदी में कूदी थी। इस दृश्य को देखा था एक सात साल के बच्चे ने। वह चिल्लाता हुआ जब तक गांव में दौड़ा था कि माई जल में लापता हो गयी थी।

छोटे से डंडे के सहारे घर में से निकल कर वह बुढ़िया इस कगार तक चल कर आयी थी। डंडे को बड़े जतन से कगार पर रख कर कटे वृक्ष की तरह वह नदी में फाट पड़ी थी।

माई का सब से छोटा पूत साधू उसी कगार पर बैठा हुआ नदी को निहार रहा था। इसी ने तब दाह दिया था। आज पूरे एक वर्ष के दिन बीते हैं। आषाढ़ का तब पहला पानी बरसा था। नदी गंदले पानी से

फूल उठी थी। बहते हुए सिवार और जलकुम्भी के बीच से माई की लाश इसी साधू ने तब पकड़ी थी।

मभलू और बड़कू माई की दाह-क्रिया के चार दिन बाद आये थे। ब्रह्म भोज के दूसरे दिन के ही बाद उस उजड़े हुए घर में भगड़ा शुरू हुआ था। भगड़ा बड़कू ने शुरू किया। गाली गलौज करते हुए वह बोला—साधू होकर इसने माई की चिता में अग्नि क्यों दिया? साधू ने कहा, और क्या माई की लाश सड़ने के लिए यहां छोड़ देता! तुम फैजाबाद में बैठे थे, और मभलू कानपुर में। फिर क्या था, तीन भाइयों में फिर वही महा-भारत छिड़ा। दोनों भाइयों ने मिल कर साधू को मारा। दूसरे दिन साधू और मभलू ने मिल कर बड़कू को मारा। अगले दिन साधू घर छोड़ फिर अपनी उसी नदी पार कुटी में चला गया। फिर बड़कू ने मभलू को इतना मारा कि वह बेहोश हो गया। बीच बचाव करने के लिए जब गांव वाले आये, तब दोनों भाइयों ने मिल कर गांव वालों से भगड़ा किया। ऐसा बहुत पहले से होता आया है—बहुत पहले से साधू को आज बिल्कुल याद आ रहा है—जब साधू छह साल का था तब से। माई की तब जवानी ढल रही थी। वह एक दिन मभलू का पत्र लेकर बड़कू से युद्ध कर रही थी। और दूसरे दिन बड़कू की ओर से अकेले मभलू से महाभारत। और आये दिन दोनों पत्तों को लेकर पूरे गांव से युद्ध।

अजीब थी माई! जैसे बिना किसी न किसी महाभारत के उसे चैन नहीं, ठीक उसी तरह बिना शांति पर्व के उसे सांस में सांस नहीं।

सच बात कही जाये तो उसे माई ने ही साधू बनाया था। तब उसके काकू जीवित थे। जीवित भी क्या, दरवाजे के पीपल के नीचे खाट पर पड़े रहते थे। पिछले वर्षों से उनका यही हाल था। जब से वह कतल के मुकदमे में पांच साल की कड़ी सजा भोग कर घर लौटे थे। किसी से न बोलना न चालना, सुबह से दोपहर तक खेत में अकेले चुपचाप कड़ी मेहनत कर उसी पीपल के नीचे खाट डाल कर उस पर लेट जाते थे, और

८८ | डाकू आये थे

बस, तब अगले दिन ही उठते। माई को महाभारत और शांति पर्व के बीच यदि समय मिलता, तो घर में भोजन बनता, नहीं तो बस वही उप-वास। काकू को जेल की वह सजा इसी माई के ही कारन भोगनी पड़ी थी।

गांव में राजू बनिया के घर पिपरौली के ठाकुरों ने डाका डाला था। माई ने ही गांव भर में गोहार मचा कर ठाकुरों को खदेड़ भगाया था। कुछ ही दिन बाद पिपरौली के ठाकुरों के सरदार का कतल हुआ था। माई ने मारे शान के यह उड़ाया था कि मेरे मरद ने अपने गांव की इज्जत का सबसे बदला लिया।

संध्या का समय था। जाड़े के दिन तीन सशस्त्र पुलिस लिये थानेदार घोड़े पर चढ़ा हुआ गांव में घुसा था। काकू सजा काट कर पीपल के नीचे अलाव जलाये वहीं खाट पर लेटे थे। साधू अलाव ताप रहा था। एक घटना हुई थी। जिले के अंगरेज कलक्टर पर कोई सुराजी पिस्तौल चला के हमारे गांव में तब आया था। गांव के लोग अपने-अपने घरों में छिप गये थे। अकेली माई ही थानेदार के सामने गयी थी। सारे गांव की तलाशी हुई थी, पर सुराजी का कहीं कोई पता नहीं। पर उस घर तलाशी में मिसिर बाबा की जवान बेटी पर दरोगा की आंख गड़ी थी। दरोगा ने गांव वालों से कहा, “मैं इस गांव में एक ओर से आग लगा दूंगा, नहीं तो मेरे सामने उस सुराजी को लाकर खड़ा करो।”

“पर सुराजी कहां है सरकार? आपने तो खुद पूरे गांव की तलाशी ली है!” माई ने कहा था दरोगा से।

गांव भर के लोगों की मुस्कियां बंधवाये हुए दरोगा खड़ा था। बेहद टंड पड़ रही थी। काफी रात बीत चुकी थी। दरोगा ने तब माई से कहा था—“नहीं तो मुझे आज रात भर के लिए मिसिर की वही....”

“जो हमारे अधिकार में है, हम उसे जरूर पूरा करेंगे!”

गांव के लोग मुक्त होकर अपने-अपने घर गये। मिसिर के घर के

नदी माई | ८९

पिछवारे अडूस के जंगल में नीम का एक पेड़ था। माई दरोगा को लिये हुए वहीं पिछवारे गयी। बोली, “आप यहीं इंतजार करिए, मैं मिसिर की लड़की को संग लिये अभी हाजिर हुई। पर हां, आप जरा डरना नहीं, उस नीम के पेड़ पर एक हरामजादी चुड़ैल रहती है। और इधर नीचे अडूस में सांप दिखायी दें, तो खयाल मत करना, ये सांप किसी को नहीं काटते। और काटते भी हैं, तो इनमें जहर नहीं होता।”

थोड़ी ही देर बाद पिछवारे की खिड़की खुली। चूड़ियों की खनक हुई। उसी चरण नीम की एक डाल पर जैसे सहसा कोई तूफान आ गया। बड़े जोर से वह डाल हिलने लगी। और उसके साथ ही एक नारी अट्ट-हास। दरोगा ने पिस्तौल से तीन फायर किये। तभी मल का एक ढेला आकर उसके मुख पर पड़ा।

“चुड़ैल !”

चीख कर दरोगा मारे भय के वहीं बेहोश हो गया। रोशनी जलाये हुए सारे लोग वहां दीड़े। माई ने कहा—“इस जंगल में दरोगा जी उसी सुराजी की ताक में आये थे, पर लगता है, वही नीम वाली चुड़ैल....”

सुबह तक दरोगा जी को बहुत तेज बुखार चढ़ आया था। और वह पालकी पर लेटे हुए थान गये थे।

शुरू से ही माई ने बड़कू के दिमाग को भर रखा था कि घर का बड़ा लड़का राजा होता है। वह थोड़े ही कोई काम धाम करता है, उसकी तो सिर्फ बात चलती है।

इस तरह बड़कू का राज चलता था, मझलू पर, और मझलू का मुझ पर इसी तरह मार गाली भी।

काकू का स्वर्गवास भी अचानक ही हुआ था। बड़कू से एक दिन काकू ने खैनी सुरती मांगी थी। माई ने इस पर काकू को गाली दे डाली थी। काकू के मुंह से निकला था—राम-राम। इस पर माई को और भी

६० | डाकू आये थे

क्रोध आया था। बात बढ़ी थी इसी राम-राम पर। माई को राम शब्द से न जाने क्यों बड़ी चिढ़ थी। पर काकू की लाश जब दरवाजे पर रखी गयी थी, तब माई जीवन में पहली बार रोयी थी और कहा था—“हमारी जिनगानी में अब कुछ नहीं रहि गया।” तब से माई बिल्कुल शांत रहने लगी थी। कभी कभार राम का नाम भी लेने लगी थी।

उन्हीं दिनों, इसी नदी में न जाने कहां से नाव खेता हुआ एक वैरागी साधू आया था। वही नाव उसका घर द्वार, वही उसका मंदिर-देवस्थान चैत का महीना था, छोटका नदी के घाट पर स्नान कर रहा था, वैरागी साधू ने उससे इतना ही पूछा था कि—“बचवा, इस गांव का नाम क्या है?” उसके मुंह से निकला—“नौली”। वैरागी तेजी से नाव आगे बढ़ाने लगा। छोटका नाव के पास गया। बोला, “महाराज, मैं आप से मंत्र लेना चाहता हूँ।”

“किस चीज का मंत्र रे?” वैरागी ने कहा।

“मैं आपसे गुरुमुख होना चाहता हूँ।” छोटके ने कहा।

इतना सुनते ही वैरागी उसे गालियां देने लगा, और बहुत तेजी से नाव खेने लगा। और वह मंत्र मुग्ध उसी पानी में तैरता हुआ उसके पीछे पीछे खिंचा जाने लगा। वैरागी ने डंडे से उसे मारना चाहा, उसने डंडा पकड़ लिया। तब वैरागी हंसा नाव किनारे लाकर रोक दिया, और छोटके की आंखों में देखते हुए बोला, “तू तो औरत है रे !”

वह चुप !

वैरागी ने कहा “दूसरे के दिये हुए सारे मंत्र भूठे हैं, तेरा मंत्र वही है, जो तेरे भीतर से निकले।”

“पर मैं तो नियर मूरख हूँ महाराज !”

—“मूरख नहीं डरपोक, औरत !” वैरागी महाराज बोलने लगे, “तेरी माई है न, उसी की दुखभरी छाया है तू ! और तेरी माई क्या है। तेरे गांव की आत्मा। और यह नदी क्या है ?”

नदी माई | ६१

ठहाका मार कर वह वैरागी हंसा। छोटका डर गया। पर दूसरे ही चरण वह बिल्कुल बच्चों की तरह बोला, “मुझ से बड़ा मूरख गंवार तू क्या होगा! मुझ जैसा डरपोक तूने और कहां देखा होगा, है न!”

फिर वही हंसी। सहसा उसके कान के पास अपना मुख लाकर बोला, “मंत्र यही नदी है! सबसे प्यार कर, पर अपने आप से नहीं....जा भाग जा! जै शंकर....जै शिवशंभू!”

छोटके ने उसी दिन गांव का घर छोड़ दिया। वह सोचता था, माई कुछ बोलेगी, विरोध करेगी। पर उस ने कहा था, “मुझे पता है, तू क्यों साधू वैरागी बन रहा है। कारन तेरी माई है न! जा, आज इतना अंश तेरी माई का भी वैरागी हो गया।”

माई निःशब्द रोयी थी। नदी के उस पार कुटिया बना कर छोटका साधू बन कर रहने लगा था। दिन भर कुटी में चुपचाप बैठा रहता। आंखों में जैसे वही वैरागी गुरु महाराज चलते होते....नदी में....नाव पर बैठे हुए। ठीक तीसरे पहर माई पत्तल में भोजन लिये नदी के तीर पर आती; छोटका नदी नहा कर आता। भोजन करता। माई के पैर परमाथा टेकता। माई की आंखें आसुओं से भरी होतीं, और वह फिर चुपचाप नदी में घुस जाता। लगता, यह नदी मेरी मां है, इसका जल उसी की आंखों का है, और वह उसी जल का एक अंश है।

मझलू उसी नदी के कगार पर बैठे हुए भादों माह की नदी में कंटिया लगाए हैं। शायद ही कोई मछली उनकी कंटिया में आ फंसे! इतनी बढ़ी हुई नदी, इतनी तेज धार, इसमें कहां मछली होगी बेचारी! पर नहीं, इसी धार में तो पढ़िन, सौर फंसते हैं।

यही मझला तब बारह साल का था। पांच सेर का पढ़िना इसी कगार पर बैठकर उसने तब मारा था। कंधे पर लादे हुए जब घर पहुंचा था तब माई उस दृश्य को देखकर हंसी थी। और उसी तरंग में वह बोली थी।

६२ | डाकू आये थे

“अरे बेटा, इसी तरह कंधे पर लादे हुए जब कहीं से कोई औरत भगा कर लाओगे न, तब जानूंगी कि मेरी जवानी से तू पैदा हुआ है।”

हंसी-हंसी में माई की कही हुई यह बात जैसे ब्रह्म लीक हो जायेगी, किसी को क्या पता था! हां, पता उस दिन लगा, जब बड़कू का बर देखने सरजू पार से कोई ठाकुर आया था। गांव में घुसते ही गांव के लोगों ने उसे घेर लिया था और उसे बताया था, माई के घर अपनी बेटी देना, आग में भोंकना है ठाकुर! पर ठाकुर था बड़ा दुनिया देखे। वह गांव में दो दिन टिका रहा। पूरे गांव भर की वही हालत। वही क्रोध, फूट और आपसी कलह। ठाकुर अंत में माई के दरवाजे पर आया। माई किवाड़ के पीछे खड़ी ठाकुर से बात करने लगी। ठाकुर ने कहा, “राउर के बड़े लड़के की शादी के बारे में आया था!”

माई तड़ाक से बोली, “आये थे तो सीधे हमारे दरवज्जे पर राउर को आना था न!”

“तो!”

“तो क्या,” माई ने कहा, “मैं ऐसे डरपोक, शक्की की लड़की को अपने बेटे की बहू नहीं बना सकती, हां।”

बड़कू की शादी माई की बात की उसी ब्रह्मलीक में जा फंसी। बड़कू सुबह शाम कसरत करते, बदन पर तेल पोतते, संध्या समय जुलफी मारकर हाथ में तेल चुपड़ी लाठी लिये हुए पहलवानी अदा से गांव भर में घूमते। नदी के घाट पर जा बैठते। बाजार और मेलों में घूमते। कितनी जबरदस्त खाहिण थी बड़कू की कि कोई औरत उन्हें मिलती। उससे उनकी शादी होती। जी-जान से वे उसकी सेवा करते और उसे इज्जत देते। पर माई भी अजब थी। वह बड़कू से कहती, “क्या मेहरा की तरह लड़कियों के पीछे मारा-मारा फिरता है, अरे जो पसंद आये, उसकी बांह पकड़कर सीधे घर में खींच ला, आगे मैं देख लूंगी।”

पर बड़कू इस मामले में बिल्कुल लजाधुर थे। लड़कियों से बात करने

नदी माई | ६३

में वे ही-ही करने लगते थे। या बहुत हुआ तो उसके आसपास चौताल, चती या आल्हा का कोई एक टुकड़ा गा उठते थे। एक बार बड़ी हिम्मत से नदी पार के गांव चम्मापुर की कहाइन को गाजी के मेले में पीतल का हार खरीद कर दिया था। बात धीरे-धीरे बढ़ने लगी थी। माई से छिप-छिप कर नदी पार आल्हा गाने जाते थे। आल्हा गाकर वे एक रात कहाइन के घर बीड़ी दागने के बहाने गये। पुलई कहार ने बातों बात में कहा, “ठाकुर, राउर की बदनामी थाने तक पहुंची है, मेरा सगा साला थानेदार का साईस है, समझतीं न, फिर समझ लेई, हां”

बड़कू चुपचाप घर लौट आये। तीसरे दिन सचमुच ही थाने से बड़कू को बुलाने के लिए दिवान साहब गांव में आये थे। बड़कू गांव में छिप गये। रातों रात गांव छोड़ कर फैजाबाद में जा उतराये।

मझलू की कंटिया सहसा बायीं ओर खिंच गयी। मझलू ने समझा, कोई पढ़िन फंसी है। उन्होंने तपाक से कंटिया को भटका दिया। डोर में एक पन्हा सांप हवा में खिंच गया। मझलू ने कगार पर छटपटाते हुए सांप को देखा। पीला रंग-चितकबरा, मुंह से खून मझलू को उबकाई आने लगी। फंसे हुए सांप समेत कंटिया को उसी चरण नदी की धार में फेंक दिया।

ठीक दस महीने बाद माई की बरखी थी। बड़कू फैजाबाद से आये थे। मझलू कानपुर से। बरखी बड़े धूमधाम से मनी थी। दूसरे ही दिन बड़कू को फैजाबाद लौट जाना था। सुबह नदी में स्नान कर के घर लौट रहे थे। सहसा उनके पांव उसी कगार पर जा कर थम गये। जाड़े के दिन थे। नदी का जल बिल्कुल निर्मल, शांत और हरे रंग का लग रहा था। दोनों ओर दूर-दूर तक किनारे-किनारे बाँका, जलकुंभी और धिवनी के फूल खिले थे।

बड़कू को लगा, नदी के दोनों ओर दूर-दूर तक माई हंस रही है।

६४ | डाकू आये थे

इसी तरह माई हंसती थी, जब भी घर पर कोई विपत्ति दुर्दिन और अपमान आते थे। सहसा उसके पांव नदी के उस ऊँचे कगार पर चंचल हो उठे। कहां है वह स्थल, वह बिंदु जहां से माई इस नदी में कूदी थी। ढूँढ़ते-ढूँढ़ते उसे लगा, बड़कू ही वह बिंदु है, स्थल है, जहां से माई ने कूद कर नदी में आत्महत्या की थी।

बात क्या हुई थी ? इसे दुनिया में मेरे अलावा और कोई नहीं जानता और जाने भी कैसे ? सब से ज्यादा माई बड़कू को ही तो प्यार करती थी। प्यार ही क्यों आदर भी। काकू के स्वर्गवास के बाद पट्टीदारों ने माई के खलिहान में आग लगायी। माई ने कहा—कोई बात नहीं, मैं मरी नहीं हूँ। पट्टीदारों की रबी की सफल खलिहान में इकट्टी थी। लालगंज के मेले में सारे लोग चले गये थे। माई के हाथ में कंडे की आग थी। वह खलिहान में, गेहूं की गांज में कंडे की आग खोसने ही जा रही थी कि उसके हाथ कांप गये, आंख में आंसू उमड़ आये। वह उसी तरह आग संभाले हुए पट्टीदार के दरवाजे पर आयी। बड़े ठाकुर सोये थे। उन्हें जगाया और बोली। “बाबा ठाकुर ! मैं तुम्हारे खलिहान में आग लगाने गयी, पर मैं वैसा नहीं कर सकी।” यह कह कर माई ने आग को दूर फेंक दिया। दूसरे दिन पट्टीदार मेले से गांव लौटे। बाबा ठाकुर ने रात की वारदात अपने लड़कों से बताया। लड़कों ने थाने में रपट कर दिया। थानेदार आये। माई ने कबूल कर लिया कि हां, वह खलिहान में आग लगाने गयी थी। थानेदार ने इसका मुकदमा बना दिया। दो बीघे खेत इस मुकदमे में गिरवी हो गये।

माई ने बड़कू के पास चिट्ठी भेजी कि तुम फौरन गांव चले आओ। ऐसी ही चिट्ठी उसने कानपुर मझलू के पास भी भेजी। मझलू ने इसका कुछ भी जवाब न दिया। बड़कू ने जवाब दिया मैं नहीं आ सकता। साथ ही उसने यह भी खत में लिख दिया कि “तेरी जैसी करनी है, वैसी तू भोग!”

नदी माई | ६५

साधू ने बताया था कि बड़कू का वह खत पाकर माई पागलों की तरह हंसी थी। अकेले मुकदमा लड़ कर माई ने थानेदार और पट्टीदार के मुंह पर जीत का तमाचा मारा था।

कगार पर खड़े-खड़े बड़कू ने नदी की धार में देखा किसी जानवर की फूली हुई लाश बही जा रही है, उसे चारों ओर से मछलियां तैर-तैर कर खा रही हैं। बड़कू के मन में न जाने क्या तड़पा। माथा थामकर वे वहीं कगार पर बैठ गये।

जिस दिन माई को बड़कू की वह चिट्ठी मिली थी, उसी दिन उसने साधू से कहा था, “अब क्या जियूं रे साधू !”

पर साधू को भला क्या पता ! बड़कू की उस चिट्ठी ने अभिमानी माई को किस तरह बेधा था। जब से ब्याह कर इस गांव में आयी, जवानी भर काकू उसे पीटते रहे। जब से तीनों पूत बड़े हुए, पूरे गांव ने बारी-बारी माई को तोड़ा। माई का युद्ध बड़कू जानता है। माई उस पर कितना गर्व करती थी। उसी ने नाम रखा था बड़कू का अर्जुनसिंह। और उसी ने ही वह पाती भेजी थी “तेरी जैसी करनी, वैसी तू भोग !”

कगार पर खड़े हुए बड़कू को लगा, माई तेज कदमों से घर से निकल कर कगार पर आयी हैं, उस के उस खत को उस के मुंह पर मार कर नदी में कूद पड़ी है।

माई को मरे आज पूरे छह वर्ष बीत गये हैं। इस बीच मनोरमा नदी ने गांव के उस कगार को आधा काट दिया है और नदी की धार अब उस कगार से हट कर जंगल की ओर चली गयी है। गांव के लोगों ने कगार पर बबूल के छोटे-छोटे कांटेदार पेड़ लगा दिये हैं, ताकि ऊंचे कगार से कोई जीव जंतु नदी में न गिर जाय। और अब कोई कगार पर नहीं खड़ा होता। बेतरह कांटे हैं वहाँ। ऊपर बबूल, नीचे मकोय, भरबेरिया और करौंदे की झाड़ियां।

चैत मास कल बीत जायेगा। गांव के लोग लालगंज के मेले में गये हैं। बड़कू, मभलू और साधू तीनों भाई कगार से नीचे नदी तीर पर चुपचाप बैठे हैं। सामने जल है, पीछे नंगा, खंडहर की तरह उदास वह कगार खड़ा है। जल और कगार के बीच जो चट्टान-सी जमीन उभरी है, उसमें जहां-तहां बिल (सूराख) हैं, किसी बिल में पनिहा सांप होगा, किसी में सपरिवार केकड़ा बैठा होगा और किसी में बाम मछली। सब अंधेरा होने की प्रतीक्षा कर रहे होंगे कि कब रात घिरे और सब अपने-अपने शिकार पर चल पड़ें। नदी का जल बह रहा है। ये जीव अपने-अपने बिलों के अंधकार में बैठे हुए एकटक उसी बहते हुए जल को निहार रहे हैं।

इसी तरह दोनों भाई चुपचाप उसी नदी को एकटक निहार रहे हैं।

बड़कू ने अपने दोनों छोटे भाइयों से कहा, “माई मुझे वीर बनाना चाहती थी, पर गांव के क्रोध ने मुझे डरपोक बनाया। माई की मृत्यु का कलंक मेरे माथे पर रहेगा,” यह कह कर बड़कू एकटक उसी नदी की धार को देखने लगे। वह कुछ और बोलना चाहते थे, पर कंठ आंख के आंसुओं से अवरुद्ध हो गया।

मभलू ने दोनों हथेली जमीन पर फैलाकर कहा, “माई बिल्कुल लोहे की बनी थी, मुझ से कहती थी, मभलू, कोमल क्या होता है, मैंने कभी नहीं जाना। तू कोमल बन कर मुझे दिखाना। पर हां, औरतों वाली कोमलता नहीं, पुरुषों वाली। पर मैं कुछ भी नहीं बन पाया। मुझे कभी यह तक न यहां अनुभव हुआ कि बनना क्या होता है।”

मभलू एक क्षण चुप रह कर नदी के ऊपर शून्य में देखता रहा। फिर माथा झुका कर बोला। “मैंने कानपुर में एक कहाइन औरत रख ली है।”

बड़कू को सहसा एक हिम्मत मिली। उन्होंने कहा, “फैजाबाद में एक विधवा ब्राह्मणी मुझे बहुत चाहती थी। पर मेरी हिम्मत ही न हुई !”

साधू ने लंबी सांस ली। दायां हाथ बढ़ा कर उसने नदी के जल में डाल दिया। गिरई मछली की तरह उसका हाथ जल में खेलता रहा। एकाएक वह बोला, "मैंने जीवन भर माई को न प्यार किया न उसे आदर दिया। मुझे इस गांव में इसका कभी अनुभव ही न हुआ कि यह भी कोई भाव है।"

तेजी से उस ने हाथ को जल से बाहर खींच लिया। उसे उठा कर वह बोला, "मुझे पता ही नहीं कि क्या है ईश्वर और क्या है गुरु। मैंने साधू बन कर एक ढोंग किया है।"

उसका उठा हुआ हाथ जैसे टूटकर नीचे गिर पड़ा।

तीनों भाई नदी तीर चुपचाप सिर झुकाये बैठे रहे।

डाकू
आये थे



मरने से पहले या मृत्यु के बाद....

क्या फर्क पड़ता है !

एक बार....बस, एक बार ।

एक बार....बस, एक बार ।

तो क्या हो जायेगा....? पता नहीं....

फारेट साहब की इच्छा होने लगी कि वह स्वयं....अपने आप करवट बदल लें । पर इतनी भी इच्छा अब किस कदर असंभव है । मन हुआ कि जोर से हंस पड़ें । पर अब उतना भी तो जोर नहीं । और घाव का इस कदर दर्द !

डाकू आये थे | १०१

जी हुआ कि लेटे-लेटे किसी को पुकारें। पर वह भी संभव न हुआ। तब उन्होंने सिरहाने घंटी का बटन दबाया। बूढ़ी मां आयीं। आ कर खड़ी रह गयीं।

‘मेरी इच्छा होती है मां....’

‘क्या बेटवा?’

‘वह आयेगी, मुझे विश्वास है।’

मां का का चेहरा उदास हो गया। अजब ढंग से कराह ली। फारेट साहब मुस्कराये, तो मां फफक कर रो पड़ी। फारेट साहब ने मुंह ढक लिया। कुछ क्षणों बाद मुंह खोला, तो देखा बूढ़ी मां फर्श पर बैठी हुई न जाने क्या शून्य में निहार रही हैं।

‘मां, जरा खिड़की खोल दो।’

मूर्तिवत मां ने सामने की खिड़की खोल दी। पुरवा हवा का ठंडा भोंका कमरे भर में दौड़ गया। कमरे की सारी चीजें जैसे उस चण्ण कांप गयीं। कमरे की गंध धीरे-धीरे कम होने लगी। फिनायल, स्प्रेट और तरह-तरह की औषधियों की गंध, पिछले कितने दिनों से उस कमरे में बसी रही हैं।

मां ने रुधे कंठ से कहना शुरू किया—‘क्या जरूरत थी उसे यहां बुलाने की....और वह यहां कौन-सा मुंह ले कर आयेगी? वह नहीं आयेगी। कितनी चिट्ठियां तो लिखी गयीं....सबने तो लिखीं चिट्ठियां.... बारह साल क्या, चौदह साल बीत गये....बड़ी बेटे की शादी में जब नहीं आयी....ऐसी कठकरेजी....!’

‘देख लेना इस बार जरूर आयेगी।’

‘हर बार तू यही रट लगाये रहता है।’

मां के स्वर में गुस्सा उभर आया। फारेट साहब की हंसी ने उसमें आग अगा दी। मां बड़बड़ाती हुई कमरे में चली गयीं। खिड़की के पल्ले रह-रह कर खड़कते। बाहर से हवा की सांय-सांय सुनाई पड़ती। दूर

पीपल के पेड़ से आंधी की आवाज उठती। कितनी-कितनी आवाज....

‘खिड़की बंद कर दू पापा!’ एकाएक कमरे में रोशनी हुई और गीता बेटे का माथा चमका।

‘अच्छा लगता है, खुली रहने दो।’

‘खाने को क्या लाऊं?’

‘पेट अच्छा नहीं है, दवा खा ली है।’

चुपचाप गीता जाने लगी। फारेट साहब ने सिरहाने से ‘स्विच आफ’ कर दिया। कमरे में फिर वही धुप अंधेरा फैल गया। अंधेरे में वही आकृतियां, वही संवादहीन बातें, वही चुप आवाजें। वही अनहद सवाल-जवाब, वही आंख-मिचौनी, वही अनायास एक बात से दूसरी बातों का निकलते जाना। सहसा रसोई में कोई चीज गिरी। मां की आवाज आयी। फिर न जाने कहां एक खटका हुआ। हवा के भोंके से दवा की शीशी गिरी। मुहल्ले की बिजली चली गयी। अंधेरा और गहरा हो गया।....बिल्कुल ऐसी ही रात थी वह। पहले सिविल लाईंस, देहरादून के उस बंगले की बिजली गयी थी....हां, तब....

तब मुझे लोग फारेट साहब नहीं डीफो साहब (डिस्ट्रिक्ट फारेस्ट आफिसर) कहते थे। मां मेरा आधा नाम लेती थी—यशोदा। पत्नी, हां,....सुलोचना, मेरा शेष नाम लेती थी—नंदन। हां, मेरा तब पूरा नाम था मिस्टर यशोदा नंदन डी० एफ० ओ०....हां....

बगल के कमरे में फिर कोई चीज गिरी। हवा उस धुप अंधेरे में सांय-सांय कर रही थी। ऐसी ही रात थी वह....

बगल के कमरे में आल्मारी का ताला तोड़ा जाने लगा था। दोनों लड़कियां मालती और गीता चीख पड़ी थीं। मैं हड़बड़ा कर उठा था। सुलोचना को जगाया। तब तक मां ने गुहार मचाया—चोर....डाकू.... डाकू....

उस अंधेरे में टार्च की की रोशनियां तीर की तरह कमरे में आर-पार होने लगी थीं। मैं बाहर दौड़ा—चपरासी-चौकीदार को आवाजें लगाते हुए। तभी मुझे किसी ने पीछे से लाठी मारी थी। गिर गया था। पूरे घर को वे लोग लूटने लगे थे। मैंने पुलिस को फोन करना चाहा था, तभी दूसरी लाठी मेरे सिर पर लगी थी। खून से तरबतर मैं भागा था, सुलोचना को बचाने के लिए। उसके तन-बदन के सारे गहने वे उतार चुके थे। अब उनका सरदार उसके साथ जबर्दस्ती करना चाह रहा था। उसके सारे कपड़े फट चुके थे। वह निर्वस्त्र पूरे कमरे और बरामदे में भाग रही थी। मां और मालती और गीता, इन तीनों को उन्होंने एक कमरे में बंद कर दिया था। वे तीनों कमरे के भीतर से चीख रही थीं। मैं रेंगता हुआ अपने कमरे में गया था। रिवाल्वर में गोली भर ली थी, तभी मेरी दायां जांघ में वह गोली लगी थी। उस हालत में भी सुलोचना की रक्षा में मैंने रिवाल्वर चलायी थी। सरदार उसे छोड़ कर भागा था। पता नहीं, उस आलम में मैंने कितनी गोलियां चलायी होंगी—मुझे कुछ भी पता नहीं।

डाकू लूट-पाट के बाद चले गये—वह सब कुछ आधे घंटे के भीतर ही हुआ था। मगर वह तो जैसे एक दुर्घटना की शुरुआत थी। हां, और क्या कहूँ। बेहोशी तो उस दिन आयी—लखनऊ के उस बलरामपुर अस्पताल में—जब मुझे यह खबर दी गयी कि मेरा दायां पैर और बायां हाथ जड़ से ही काट दिया जायेगा। होश आने पर सुलोचना को बुलवाया गया। उसने बड़ी निर्भीकता से दो टूक उत्तर दिया—जीना है तो हाथ-पैर कटाना ही होगा।

हाथ-पैर कटा कर फिर देहरादून वापस। उस दिन बंगले पर कितने लोग मुझे देखने आये थे। चीफ कंजरबेटर आफिसर....कलक्टर....एस० पी० डी०, एफ० ओ०, टिहरी गढ़वाल....असिस्टेंट डी० एफ० ओ०, नैनीताल....बरेली के ताऊ जी....शाहजहांपुर के बड़े साले साहब....पर

१०४ | डाकू आये थे

उसी शाम सुलोचना मेरे सिरहाने एक चिट्ठी छोड़ न जाने कहां चली गयी !....हां, चली गयी....

●
कमरे में रोशनी आ गयी। मां ने आकर खिड़की बंद कर दी।

‘कुछ खाओगे नहीं बेटा?’

‘दूध-भात खिलाओ तो खाऊं मां।’

‘आज क्या हुआ है तुम्हें....तुम्हें पता भी है कुछ!’

मां चली गयीं। हां हां, पता क्यों नहीं है—दूध-भात तब से मना है इस घर में खाना। उस डाके की रात मैंने बच्चों के साथ दूध-भात खाया था।

सारा घर क्या—मां बगल के कमरे में सो गयीं। गीता इसी कमरे में, किनारे बिछी तखत पर बिस्तर बिछा कर बैठ गयी। वह चुपचाप स्वेटर बुनती रही।

फारेट साहब को सुलोचना की लिखी हुई वे तीन पंक्तियां याद आती रहीं :

‘मेरी सारी जिंदगी अभी पड़ी है।

मैं इसे बरबाद नहीं कर सकती।

मैं सब कुछ छोड़ कर जा रही हूँ।’

‘छोड़ कर’ और ‘जा’ के बीच कुछ लिख कर काट दिया गया था—

इस कदर कि किसी तरह से भी पढ़ा न जा सके। पहले अनुमान था कि वह कटा हुआ शब्द है ‘यू ही’। पर जब फारेट साहब नौकरी से मुक्त कर दिये गये और उन्होंने एक अनाथ, अपंग और दया का जीवन बिताना शुरू किया, तब उन्हें लगा—वह कटा हुआ शब्द था—‘विवशतः’ पर बड़ी लड़की मालती की शादी पर जब उन्होंने सुलोचना को त्रिवेद्रम पत्र लिखा—बुलाया—सबके खत गये—और जब वह नहीं आयी—तब उन्होंने अनुमान लगाया, जरूर वह कटा हुआ शब्द था ‘सदा के लिए।’

डाकू आये थे | १०५

गीता ने स्वेटर बुनते-बुनते कहा, 'पिता जी, अभी सोये नहीं ?.... आज बहुत दर्द है क्या ?'

फारेट साहब के होंठों पर अब हंसी आती है, ऐसे प्रश्नों से ।

'किसके लिए स्वेटर बुन रही है बेटी ?'

बेटी ने ऊन के नये गोले को उठाते हुए कहा, 'पिता जी—मंदिरवाली गली में पंजाबी स्टोर है । उसकी मालकिन ऊन और डिजाइन देकर स्वेटर बनवाती है—फ्री स्वेटर चार रुपये बनवायी । बच्चों के दो रुपये । ऐसा है पिता जी....आप सो गये पिता जी । लाइट बंद कर दूँ ?'

गीता स्वेटर बुनती रही । हाथ लगा फंदा पूरा करके वह लाइट बुझा कर सो जायेगी—ऐसा उसने अपने आप से ही कहा । फारेट साहब नींद का अभिनय करके चुपचाप पड़े थे । पर एकाएक दर्द से कराह पड़े । गीता दौड़ कर आयी । कपड़ा उठा कर देखा—पीप भरे रक्त का एक लोथड़ा कटी हुई जांघ के ऊपर से नीचे खिसक रहा था । गीता ने देखा—घाव किस कदर बढ़ता-फैलता-फूलता जा रहा है । उसने पोंछ-पाछ कर के दवा लगानी चाही, तो फारेट साहब ने कहा, 'तेरी मां इस बार जरूर आयेगी ।'

'अब क्या आयेंगी ?'

इच्छा हुई कि बेटी को रहस्य बता दें, पर मन मार के चुप रह गये ।

फागुन की सुबह । कुहासा छाया था न जाने क्यों ? पिछले दो-तीन दिनों से फारेट साहब की तबियत ज्यादा गंभीर हो गयी थी । कैंसर बेहद बढ़ गया था । डाक्टरों ने आश्चर्य किया था—ये अब तक जिंदा कैसे हैं ! सुबह ही सुबह दरवाजे पर एक रिक्शा रुका । उसमें से एक स्त्री एक पुरुष के साथ उतर कर पूछने लगी—'यहां कोई यशोदानंदन जी रहते थे ?'

पर यहां लोग यशोदानंदन को नहीं—फारेट साहब को जरूर जानते थे । और घर का नंबर जरूर यही है—तीन बटे तेरह, गंदी गली, सहारनपुर, मोहल्ला मछुआ टोला ।

१०६ | डाकू आये थे

अटैची केस लिये पुरुष और युवती दरवाजे पर खड़े इधर-उधर देख ही रहे थे कि मां बाहर निकलीं । सुलोचना ने मां को पहचान लिया । मां के पैर छुए । मां रो पड़ीं । दौड़ी हुई गीता आयी और मूर्तिवत मां निहारने लगी । चौदह वर्ष बाद वही मां....

सुलोचना ने पूछा, 'उनकी मृत्यु कब हुई ?'

मां-बेटी उन्हें एकटक निहारने लगीं । मां ने भट समझ लिया—ओ हो, तभी वह कहता था कि वह इस बार जरूर आयेगी, तो उसने किसी से लिखा भेजा था कि उसकी मृत्यु हो गयी । मां चुप रह गयी । चुप नहीं, विष का घूंट पी कर चुप ।

पुरुष के साथ सुलोचना घर में गयी । दो कमरों का वह गरीब घर । चारों तरफ सीलन और बदबू । आसपास का वह गंदा पड़ोस । तमाम मैले-कुचैले बच्चे कमरे में घुस आये थे । गली की दो औरतें आकर दूर घुसुर-फुसुर बातें करने लगी थीं । सुलोचना का दम घुटने लगा । पुरुष धुआंधार सिगरेट पीता रहा । पूरे वातावरण भर में अजब भय और रहस्य का भाव खिचता चला जा रहा था । सुलोचना, मां और बेटी से प्रश्न करती, तो सब कुछ निरुत्तर रह जाता । कमरे की एक-एक चीज जैसे हिलने-डुलने लगती । सब कुछ सबके लिए मानो असह्य हो रहा था । तभी मां फूट पड़ीं, 'तू मेरे बेटे की मौत पर आयी है ! यही तेरा व्रत था, जब वह मर जाये, तभी तू यहां अपना मुंह दिखाने आये ! तो सुन....

गीता ने दौड़ कर दादी मां का मुंह थाम लिया ।

दादी बेहोश हो गयीं ।

उसी दिन की रात....वही रात !

मां-बेटी, फारेट साहब को घेरे बैठी थीं । बगल के कमरे में सुलोचना और वही पुरुष । जैसे वह कोई घर नहीं, स्टेशन हो....बहुत दूर-दराज का स्टेशन....फारेट साहब को कभी होश आ जाता, कभी बेहोश हो जाते । पर होश और बेहोशी के अंतराल में भूलते हुए उस जीवन-भाग को जैसे

डाकू आये थे | १०७

वे कहीं बड़ी मजबूती और एहतियात से पकड़े हुए थे। होश आते ही कहते—‘उसकी क्या गलती....उसने बहुत समझदारी और बहादुरी से काम लिया....’

बगल के कमरे से पुरुष की आवाज आती—‘तुम इस कदर भूठ बोलती हो, मुझे यह पता नहीं था....बताओ, तुमने क्या कहा था?’

सुलोचना की बोली सुनने के लिए फारेट साहब कान उठेरे हुए थे। पर उसकी कोई बोली नहीं सुनाई पड़ती। जैसे स्टेशन से सारी गाड़ियां सदा के लिए गुजर गयी हों। पहाड़ पर बना वह स्टेशन।

फारेट साहब ने फिर कहा, ‘मां....बेटी,....उसका क्या कसूर....उसने अच्छा किया, सोचो जरा....ऊपर से तो सब स्वारथ है....पर उसकी भी तो सोचो। वह औरत थी....सुंदर थी....और अब भी है....’

मां लड़प कर बोलीं, ‘उस चुड़ैल....मुंहभौंसी को बचाने के लिए तूने अपना सब कुछ फूँका-गवांया....और उसने उल्टे ऐसा किया....तुम उसे अब भी अच्छा कहते हो?’

फारेट साहब के मुंह से निकला, ‘वह और करती ही क्या, वह बहा-दुर है....उसे प्यार है जीवन से। उसने बहुत समझदारी की....बगल के कमरे से फिर पुरुष की आवाज आयी, ‘वह अब तक नहीं मरा....वह कभी नहीं मरेगा....मैंने यह नहीं समझा था कि तुम इस कदर की चालबाज हो। तुम्हें पता नहीं....मैं अब कुछ नहीं कह सकता....‘आई एम सोरी’.... यू नो....!’

सुलोचना ने जवाब में धीरे से कुछ कहा था। फिर दोनों कमरों में सन्नाटा छाया रहा। हवा फिर बहने लगी थी। खिड़की आज भी खुली थी। एक बार वह सन्नाटा कांपा और उसमें से सुलोचना की आवाज कौंधी—

‘सिर्फ एक बार मुझे देखने के लिए....!’

फारेट साहब ने कहा, ‘बेटी, मां को बुलाओ....एक बार....’

१०८ | डाकू आये थे

उसी क्षण सुलोचना पहली बार कमरे में आयी। जड़वत् खड़ी रह गयी। यशोदानंदन-फारेट साहब ने वही एक बचा हुआ हाथ उठाना चाहा। पर वह हाथ कांप कर बिस्तर पर स्थिर रह गया। न जाने कहां की एक मुस्कराहट उनके मुंह पर चमकी और उन्होंने धीरे से कहा, ‘सुखी रहो....क्षमा करना।’

और वे अचेत हो गये। फिर वह चेतना नहीं लौटी। मां-बेटी फारेट साहब की लाश के पास रात भर अविचल बैठी रहीं। और रात भर बगल के कमरे में सुलोचना और उस पुरुष में लड़ाई होती रही। रात भर.... वही। लग रहा था, उस रात जैसे फिर डाकू आये थे!

डाकू आये थे | १०९

रामलीला



'सुक्ली महाशय, जिंदाबाद !'

'सुक्ली, मुर्दाबाद !'

'सुक्ली महाशय जीतेंगे !'

'सुक्ली सत्यानाश हो !'

‘रघुराज सिंह, जिदाबाद !’

‘रघुराज सिंह....!’

‘सुक्वी....!’

जनकी पंडिताइन के कानों में बहुत सारी आवाजें गूंज रही हैं। लगता है, अब भी चुनाव....एलक्सन हो रहा है। ब्राह्मण, ठाकुर, कायथ, बनिया लोग, ठाकुर रघुराज सिंह की ओर से पूरे इलाके भर में घूम-घूम कर काम कर रहे हैं। घूमघाम के सबके पास एक ही बात है—‘शूद्र ने विधवा ब्राह्मण कन्या के साथ....’

‘शूद्र सुक्वी मुर्दाबाद !’

‘रघुराज सिंह जिदाबाद !’

और वे सारे ढोल, तमाशें, गाली-गलौज, मार-पीट-भंडे, लाउडस्पीकर और वे लिच्चर जनकी के सुने घर में जैसे अब भी पत्थी मार के बैठे हैं। ठीक उसी तरह, जैसे उसके पति के स्वर्गवास के बाद ब्रह्मभोज में ब्राह्मण लोग पत्थी मार कर भोजन करने आये थे।

सहसा दरवाजे पर आहट हुई। बाहर निकल कर देखा—भिखमंगा खड़ा है।

‘भागवान, सौभागवती रहो !’

जनकी को अच्छा लगा। भीख पा कर वह चला गया। वह बरामदे से भीतर जाने लगी, तो अचानक उसकी नजर उस नंगे पलंग से बंध गयी, जिस पर रात के अंधेरे में रघुराज सिंह आ कर लेटते थे। पैर पर पैर टांग कर वह घंटों हिलाया करते। वह जनकी से कुछ कहना चाहते, पर कह नहीं पाते।

‘सुनो हो पंडिताइन !’

‘का है ?’

‘हमार मन है कि....’

‘बताओ न !’

११४ | डाकू आये थे

वह बात यहीं आ कर टूट जाती। और वह अपनी भेंप मिटाने के लिए खैनी सूरती मुंह में भोंक लेते और चुप हो जाते। पंडिताइन दया से भर जाती। पैताने बैठ कर उनके पैरों को अंक में भर लेती और आहिस्ते-आहिस्ते दबाने लगती। आधी रात तक जनकी को अंक से बांधे पड़े रहते और फिर थके पैर घर चले जाते।

उस दिन वह शाम को ही आये। बाहर का दरवाजा खुद बंद किया और पलंग पर बैठते-बैठते ही बोले—‘बात ई है कि या तो मैं राजनीति छोड़ दूँ....’

‘ऐसा क्यों ठाकुर !’

‘बात ई है कि राजनीति में हार जाने का मतलब है, मृत्यु।’

जनकी के लिए यह बात असह्य थी। ठाकुर जब पहली बार एम० एल० ए० चुने गये थे, तब उनके मुंह से निकला था—‘जानकी रानी, मेरी यह विजय तुम्हारे प्रेम का आशीर्वाद है।’

जनकी एक ही साल पहले विधवा हुई थी, पर उसे उस क्षण लगा था, जैसे वह फिर सधवा हो गयी। मगर अगले चुनाव में ठाकुर बुरी तरह से हारे थे। हरानेवाले थे वही सुक्वी महाशय, कौम हरिजन, गांव लोहारपुरा।

जनकी ने कहा, ‘हार-जीत तो लगी रहत है ठाकुर।’

मगर अब जीतना मुश्किल है—ऐसा सिद्ध किया था ठाकुर ने। सारी रात वह पलंग पर आंख खोले पड़े रहे। सुबह उनके मुंह से निकली थी वह बात—‘तुम्हीं चाहो तो मुझे जिता सकती हो।’ तब उन्होंने कहा—‘तुम किसी तरह सुक्वी महाशय को बदनाम कर दो, बस्स !’

यह सब सोचते-सोचते जनकी की सांस फूलने लगी। वह बरामदे से बाहर अपने दरवाजे पर घूमने लगी। वह उस जगह को एकटक निहारने लगी, जहां भिखमंगे ने खड़े हो कर कहा था—‘भागवान, सौभागवती

रामलीला | ११५

रहो ।'

लखनऊ किधर है ? वह अनुमान से पश्चिम दिशा में निहारने लगी । चुनाव जीतते ही ठाकुर सीधे लखनऊ चले गये हैं । वह वहां से आयेंगे तो.... भिखमंगे की बात जनकी की आंखों में तैरने लगी ।

गांव की कुछ औरतें दरवाजे से गुजरने लगीं । पंडिताइन ने बड़े स्नेह से पुकारा । एक औरत ने मुंह बिचकाया । दूसरी ने आंख मारी । तीसरी ने सरापा । चौथी ने मन ही मन गाली दी । जनकी देखती रही—वे औरतें मैदान में घास छीलने जा रही हैं । वे घूम-घूम कर इधर देखतीं और न जाने कैसे मुंह बना लेतीं । जनकी बरामदे में नीचे बैठ गयी । चुनाव के नारे अब और तेजी से उसके कानों में गूंजने लगे थे । जैसे अब भी वही चुनाव चल रहा है । वह काफी देर तक वहीं बैठी रही । फिर उसकी कमर में दर्द होने लगा । गांव में उसकी एक सहेली थी—गंगा सहुआइन । वह घर में ताला मार के उसी के पास गयी ।

गंगा चौंके में थी । यह वहीं पास जा कर बैठी । गंगा ने कहा, 'सखी, चाय पियो ।'

दोनों आमने-सामने बैठ कर चाय पीने लगीं ।

गंगा ने पूछा—'लखनऊ उनके पास कब जा रही हो ?'

'जैसे ही ठाकुर लौटेंगे,' जनकी ने लंबा-सा घूंट पिया, 'क्यों, लखनऊ घूमने चलीगी न !'

'यही तो कब से मना रही थी ।' गंगा ने कहा ।

जनकी चाय के प्याले को हथेली में बांधे हुए चुपचाप शून्य में देखने लगी ।

गंगा चहचहाती हुई बोल रही थी, और जनकी की तपस्या और धीरज की तरह-तरह से तारीफ कर रही थी ।

एकाएक जनकी के मुंह से फूटा, 'सुक्की महाशय ने कभी मुझ पर सुबहा नहीं किया ।'

११६ | डाकू आये थे

'उनसे बातें क्या होतीं ?'

'वह बहुत ही कम बोलते ।'

'उनसे तुम....?'

'हां, वह मुझे आदर देते और भगवान को याद करते ।'

'तुम कितनी देर उनके घर में रहती ?'

'याद नहीं ।'

'क्यों ?'

गंगा सहुआइन के इस प्रश्न के साथ ही, जनकी निरुत्तर रह गयी । एक ही सांस में बाकी चाय पी गयी । गंगा ने अंगड़ाई ली । आंचल जमीन पर लोट गया । हाथ की उंगलियां चुटचुटाने लगीं । आंचल जमीन पर उड़ता रहा । जनकी हंस पड़ी । बताने लगी—'इसी तरह सुक्की महाशय के सामने एक बार मुझे भी अंगड़ाई आयी थी । और उन्होंने मेरा आंचल उठा कर सर पर रख दिया था । वे कुछ बोलना चाह रहे थे, मैं उन्हें देखती रह गयी थी ।'

गंगा ने शरारत से पूछा, 'कितनी बार महाशय ने....?'

'सच, एक बार भी नहीं ।'

'राम कसम ?'

'अपनी कसम ।'

'पर हाय राम ! पूरे गांव-जवार भर में कितनी बदनामी है महाशय की ।'

'यही आज्ञा और इच्छा थी ठाकुर की ।'

सखी ने आंख मार कर कहा, 'गजब रे गजब !'

जनकी के मुंह पर प्रसन्नता छायी थी । वह अजब ढंग से कहने लगी रामायण की कथा—'एक और राम । दूसरी और रावण । एक अजोच्या-पुरी, दूसरी लंका । कैसे हो रावण का विनास ? हां तो वही बनवास । सीता हरण !.... असली सीता राम के हृदय में नकली सीता को ले गया

रामलीला | ११७

अधर्मी रावण....सत्यानाश !'

भीतर सखियां कथा कह-सुन रही थीं। बाहर सहुआइन के दरवाजे पर गांव की कई औरतों की ठहाकेदार हंसी सुनाई दी। दोनों तेजी से दरवाजे पर निकल ही रही थीं कि जनकी ने गंगा का दायां हाथ पकड़ किवाड़ के पीछे ही रोक लिया।

कभी खुसुर-फुसुर, कभी धांय-धांय इस तरह औरतें बतिया रही थीं—
मुंहभौंसी जनकी पंडिताइन....सुक्की दहिजरा कै पूत....ससुर कै नाती ठाकुर रघुराज।

एक ने कहा, 'विधवा बाभनी हो कर ऐसी करनी !'

और शेष औरतें राम-राम-राम कह पड़ीं।

दूसरी ने कहा, 'ई सब दहिजरे के नाती ठाकुर ने किया—सुक्की महाशय को हरावै वदे।'

कुछ औरतों ने च्....च्....च्....कहा और शेष ने हवा में ऊंगलियां फोड़ीं।

तीसरी के मुंह से निकला, 'मुला, रांड को ऐसा चाहिए नहीं।'

'कीयां पड़ी, कीयां।'

'अरे बहिनी को कहो—ऊ लखनऊ मा ठाकुर के साथ मउज करी की, ई कलयुग है कलयुग, जो जितनै, अधर्म करी, उतनै फूली फली, हां नाहीं तो, कहां की बात !'

'विचारी करै भी का—भरी जवानी, नैइया कौन पार लगावै !'

'दूसर शादी कै लेय।'

'बाभन की विधवा, कहां मिली बाभन।'

'तो रंडी पतुरिया होई जाय।'

सारी औरतें इस पर हंसती-हंसती लोट-पोट होने लगीं। जनकी वहीं किवाड़ के पीछे धम्म से बैठ गयी और दीवार से अपना सर टिका लिया। गंगा सहुआइन बाहर निकली, फुसफुसा कर कहा—'भीतर पंडिताइन सुन

रही हैं, चुपै रहो हां !'

जनकी का सारा मुंह सूख गया। उसे आशा थी। कम से कम उसकी सखी गांव की उन औरतों को डांटेगी और उन्हें दरवाजे से बाहर निकाल देगी। पर ऐसा कुछ न हुआ। बीड़ियां दगीं। बातें फुसफुसा-फुसफुसा कर होने लगीं। हंसी दांतों की किलेबंदी में घूमने लगी।

जनकी इंतजार करने लगी—औरतें दरवाजे से हटें, तब वह अपने घर जाय। सुबह से अभी तक उसने सिर्फ यही एक कप चाय पी है। उसने अपने आपको ठाकुर की याद के साथ बांधा। उसे कुछ सहारा मिला। वह किवाड़ के पीछे से आंगन में गयी। नल चला कर ताजा पानी पिया। आंख-मुंह धोया। भांक कर देखा औरतें अब तक दरवाजे पर डटी हुई हैं। गंगा सहुआइन भी वहीं टांग पसार कर बैठ गयी है।

जनकी चुपचाप, माथा उठाये बड़ी शालीनता से बाहर निकली। उसे लगा, जैसे वह किसी सरपत की झाड़ी के भीतर से गुजर रही है। वह नीचे देखे, तो सरपत से आंख का खतरा, ऊपर देखे तो गला कट जाने का खतरा। वह तीर की तरह सीधे निकल गयी। अपने दरवाजे पर आयी तो वहां उसे सुक्की महाशय बैठे मिले। जनकी उन्हें देखते ही न जाने क्यों डर गयी। वह चुपचाप दरवाजा खोलने को बड़ी थी, पर सहसा रुक गयी।

'नमस्ते पंडिताइन !' सुक्की महाशय ने शायद यह तीसरी बार प्रणाम किया था।

जनकी चुपचाप खड़ी थी।

'आओ बैठो, कहां गयी थीं ?'

जनकी मूर्तिवत् खड़ी थी।

'कुछ परेशान लग रही हो ?'

जनकी ने सिर हिलाया।

सुक्की महाशय बोलने लगे—'चुनाव के बाद आपने आना-जाना ही

छोड़ दिया। मैं एक बार और आया था। आप कहीं गयी हुई थीं। आपके दर्शनों की इच्छा कई दिनों से बहुत हो रही थी....'

जनकी ने बेहद ठंडे स्वर में कहा—'आपसे मेरा क्या रिश्ता?'

'ऐसे क्यों बोलती हो?'

'यही सच है—ठाकुर को जिताने के लिए मैंने....'

'बकने दो लोगों को, वे क्या जानें?'

'क्यों?' जनकी को बड़ी भुंभलाहट हुई।

'छोड़ो उन भूठी बातों को पंडिताइन!'

'हमार सीधे नाम लो, पंडिताइन ना कहो, हां!'

सुकवी महाशय हंसे—बिल्कुल बुजुर्गवाली हंसी। जनकी को उतना ही बुरा लग रहा था। वह तरह-तरह की अनाप-शनाप बातें सोचने लगी।

सुकवी के मुंह से फूटा—'सब आनंद-मंगल है न?'

जनकी बड़ी देर तक चुप रही—मानो यही कह सकने के लिए प्रयत्न करती रही—'हमने आपको धोखा दिया, आपको हमसे नफरत करै क चाहें।'

'यह सच नहीं।'

'याही सच है।'

'मैं नहीं मानता।'

'फिर आप हमसे बदला लेबे बदे, ई मीठी-मीठी बतियाय रहे हैं।'

सुकवी महाशय बिल्कुल बच्चों की तरह हंसने लगे। जनकी दरवाजा खोल कर भीतर चली गयी। सुकवी महाशय उसी पलंग के पैताने न जाने कब तक चुपचाप बैठे रहे। धीरे-धीरे गांव के कुछ हरिजन, घोबी, भर, धरिंकार लोग आये और महाशय से बातचीत करने लगे।

एक ने कहा—'साहेब, आपके इहै औरत हराइस।'

सुकवी महाशय गंभीरता से बोले, 'आप लोगन को ऐसा नहीं कहना चाहिए। हार-जीत तो लगी रहती है भाई। और रही मेरी बात, मुझे

१२० | डाकू आये थे

तो नहीं लगा कि मैं हारा।'

सहसा एक ने कहा, 'साहेब, हम शूद्रों में से इसी वजह से सबने आपको वोट नहीं दिया।'

'क्यों नहीं दिया?'

'धरम से कौन नहीं डरत साहेब?'

'कैसा धरम!'

'यही कि....'

एक सन्नाटा खिंच गया। भीतर से तमतमायी हुई जनकी पंडिताइन निकली, 'चले जाओ, हमरे दरवज्जे पर से, हां नाहीं तो....' सुकवी महाशय पलंग से उठ और सबको साथ लिये हुए गांव के बाहर निकल गये।

शाम होते-होते जनकी पंडिताइन ठाकुर रघुराज सिंह के घर गयी। घर में थी ठाकुर की बुढ़िया मां और वही एक विकलांग शिशु—जिसको दादी मां ने 'जनावर' नाम दे रखा था।

जनकी की आवाज सुनते ही जनावर सुग्गे की बोली बोलने लगा—
टें....टें....टें....! वह अपाहिज बच्चा खाट पर जन्म से ही पड़ा केवल चिड़ियों की बोली के जरिये अपने आपको प्रकट करता। सुग्गे की बोली का मतलब था—जनकी काकी, मेरे पास आओ—जल्दी से आओ।

पर जनकी को दादी मां ने रोक लिया। वे पूछने लगीं, रघुराज लखनऊ से कब घर लौटेगा? उसने अब तक कोई पत्र न दिया। पर यही सब तो पूछने जनकी आयी थी। उसके पास भी आज तक कोई पत्र नहीं आया। नाहीं कोई खोज-खबर। दादी मां कमर से थोड़ा भुक कर चलती थीं। आज उनकी कमर और भुक गयी है—ऐसा जनकी ने अनुभव किया।

जनावर अगले महीने की पूरनमासी को पूरे दस साल का हो जायेगा

रामलोला | १२१

—यह दादी मां ने बताया। और यह बता कर वे इस तरह रोने लगीं, जैसे वह कुछ कह रही हों। ठीक यही रुलाई छह साल पहले उस दिन फूटी थी, जब जनावर की मां का अचानक स्वर्गवास हुआ था। तब जनकी का पति जीवित था। सारी रात जनकी ठकुराइन की लाश के सिरहाने बैठी थी। पायताने रघुराज सिंह बैठे थे। और जनावर के पास दादी मां बैठी रोयी थीं। वही रुदन आज फिर दादी मां के मुंह पर उमड़ा था। उस दिन जनकी ने जिस तरह रघुराज सिंह को सांत्वना दी थी, उसी तरह से आज वह फिर दादी मां को देने लगी थी। तब दादी मां ने कहा, 'पंडिताइन बहू, तुम यहीं आ कर क्यों नहीं रहती?' इस तरह से दादी मां ने पिछले सालों में न जाने कितनी बार कहा था! पर आज उनके कहने में एक अजब मर्मभेदी करुणा थी। उससे भी ज्यादा करुणा उस असहाय बालक की पुकार में थी। वह कब से लगातार मुग्गे की बोली में पुकारता जा रहा था।

'यही तो मेरा घर है मां।' जनकी के मुंह से निकला।

'तो यहीं रहो न!' दादी ने कहा।

'ठाकुर के आते ही....'

'कोऊ चीठी आयी है?'

'नाहीं।'

जनकी समझाने लगी—स्वयं को भी और माई जी को भी। ठाकुर फिर से एम० एल० ए० हुए हैं। पहली ही बार अभी लखनऊ गये हैं। वहां बहुत व्यस्त होंगे। जाते समय मिल तक नहीं पाये। वे एक बार कह रहे थे—सब लोग कुछ दिन लखनऊ ही रहेंगे। जनावर को वहां अस्पताल में भर्ती कर दवा-उपचार करायेंगे।

जनावर एकाएक चुप हो गया था। जनकी दौड़ी हुई उसके पास गयी। वह पड़े-पड़े ही पेशाब करने लगा था। जनकी ने उसे अंक में उठा लिया। पास में रखी बाल्टी पर उसे भुका दिया। पेशाब करने के बाद

१२२ | डाकू आये थे

वह टट्टी करने लगा। दादी माई आ कर बताने लगीं—'तीन दिनों से उसने टट्टी नहीं की थी।' अब दादी से जनावर उठाया नहीं जा पाता।

जनावर को उसने नहलाया-धुलाया। नये कपड़े पहनाये। जैसे ही बिस्तरे पर लिटाया, वह गौरैया चिड़िया की बेहद मीठी बोली बोलने लगा—'चुचू....चू...चू...चुचू चुचू चू!'

दादी हंस पड़ी। कितने दिनों बाद वह यह बोली बोला था। मां जब जीवित थी, तब उसी से यह बोली बोलता था, अर्थात्—मां, तुम कहाँ थीं! कब से तुम्हें याद कर रहा हूँ।

जनकी को भी याद है—जब उसे भूख लगती, तब वह पालतू तोते की तरह बोलता पट्टू! टांय....टांय! और जब उसे टट्टी लगती, तो वह कौए की बोली बोलता—कांव कांव!

पर आज वह क्यों नहीं बोला और चुपचाप बिस्तरे पर ही पेशाब करने लगा—'क्यों रे भइया, तू बोला काहे नाई?'

'तुम आयीं काहे नाई?'

फिर दोनों की हंसी उस सूने घर में प्रकाश की तरह डोल गयी।

जनकी ने भोजन बनाया। दादी माई के लिए बेसन की कढ़ी और भात। जनावर के लिए खीर-पूड़ी। दोपहर से एक पहर रात तक उस घर में ऐसा सुखद समय बीता, जैसे कोई मनमोहक स्वप्न हो, जिसके लिए कहीं कोई सबेरा नहीं चाहिए।

जनकी पंडिताइन को फिर भी घर जाना चाहिए; वह जनावर को तरह-तरह के वचन दे कर, उसकी सहमति से घर जाने लगी, तभी दादी मां की वही रुलाई फिर फूटी, जिसके सामने जनकी के पैर आगे न बढ़ सके।

सुबह तड़के उसके कंठ से एक गीत फूटा—

—कैसे दिन कटिहैं, जतन बताये जाव

कैसे दिन बितिहैं....?

रामलीला | १२३

गाते-गाते उसका कंठ एकाएक बैठ गया। यह भजन तो सुक्वी महाशय गाते थे। जब-जब वह उनके घर में रात में रुकी है, सुबह दूर से उसने यही स्वर सुना है। महाशय के कंठ में कैसी कंपकंपी होती थी!

दादी मां ने टोका—‘बहू, काहे गाना रोक दिया?’

‘अब घर जाऊं माई जी!’

अपने घर पहुंची, तो देखा उसी नंगे पलंग पर सुक्वी महाशय पड़े सो रहे हैं। उन्हें देख न सकी और घर में भी न घुस सकी! बंद ताले को छुआ और जैसे डर गयी। बरामदे से बाहर निकाल आयी। क्वार अभी-अभी बीता है। कात्तिक शुरू हो गया है। आसमान इतना साफ और धवल है। जनकी को लग रहा है, कहीं बादल गरज रहे हैं। वह अपने दरवाजे से भागी, जैसे कोई उसका पीछा कर रहा है। गांव से बिल्कुल पश्चिम दिशा में बढ़ आयी। उस लंबे-चौड़े मैदान में, जहां रामलीला होती है। उसने देखा, रामलीला शुरू भी हो गयी है। पश्चिम ओर है अयोध्या—पूरब ओर है लंकापुरी। शायद अब तक धनुषयज्ञ हो चुका है। कल ही शाम। पूरे मैदान भर में इधर-उधर फूल बिखरे हैं। जगह-जगह आम के पत्ते पड़े हैं। पीपल के नीचे रावण की ठठरी बननी शुरू हो गयी है। कुछ हरे-हरे बांस पेड़ की डालियों के सहारे खड़े किये गये हैं। इन्हें चीर-चीर कर लंबी-लंबी फज्भियां बनायी जायेंगी और इनसे रावण का विशाल पुतला बनाया जायेगा।

दोपहर तक जनकी उसी पीपल के नीचे बैठती घूमती रही। एक क्षण उसे लगा, रावण की उस ठठरी के पीछे सुक्वी महाशय चुपचाप खड़े हैं। वह वहां से तत्काल हट आयी। मैदान को पार करती हुई वह सोचने लगी—तभी हर साल रावण जला दिया जाता है। पर फिर उसे क्यों बनाते हैं? यही दिखाने के लिए कि पर-स्त्री से प्रेम करनेवाले की यही सजा है!

जनकी को अकस्मात हंसी आ गयी। वह जब घर पहुंची, तो सुक्वी महाशय वहां से जा चुके थे। वह न जाने क्यों, अंदर न गयी। उसी पलंग पर बैठ कर दरवाजे में लगे ताले को निहारने लगी।

ठीक चौथे दिन उसे खबर लगी—ठाकुर रघुराज सिंह लखनऊ से आ गये। उस दिन गांव की रामलीला में सीताहरण था। वह सारा दिन ठाकुर की राह देखती रही। उसने सुना, शाम को रामलीला में ठाकुर का भाषण होगा। वह रामलीला मैदान में गयी। मंच के ठीक सामने कुछ दूरी पर बैठ कर वह ठाकुर का भाषण सुनने लगी। ठाकुर बड़े ही धार्मिक विश्वास से बोल रहे थे—हमारे समाज में हर स्त्री को सीता की तरह होना चाहिए। सीता का चरित्र वह प्रकाश है, जिसकी आग में रावण जल कर भस्म हो जाता है।

जनता ने जय जयकार स्वर में कहा—ठाकुर रघुराज सिंह जिंदाबाद! रावण मुर्दाबाद!

और जनकी ने देखा, कितनी आंखें उसे नफरत से घूर रही हैं। हवा में कुछ गालियां भी उड़ने लगीं। कुछ हंसी, कुछ मजाक और कुछ मर्माहत कर देनेवाली बोलियां। जनकी फिर भी ठाकुर को निहारती हुई बैठी रही। ठाकुर साहब के उठने से पहले वह उठी और सीधे अपने घर चली आयी। दिया जला कर वह घर में राह देखती रही।

ठाकुर नहीं आये।

अगले दो दिनों तक नहीं आये।

अंत में वह ठाकुर के घर गयी। ठाकुर उसे देखते ही सूख गये। न जाने किस बात पर बूढ़ी मां पर बरसने लगे। जनकी से न रहा गया। वह ठाकुर के सामने जाकर बोली, ‘का बात है ठाकुर?’

वह इधर-उधर की न जाने क्या-क्या बातें करने लगे, जिसे न जनकी समझ पा रही थी, न शायद ठाकुर स्वयं।

जनकी ने फिर वही दुहराया—‘ठाकुर, का बात है?’

वह बोले, 'तुम 'मिडवाइफ' की ट्रेनिंग कर लो। मैं इंतजाम करा दूँगा।'

जनकी को समझ में कुछ न आया। और ठाकुर आगे कुछ न बोले.... न कुछ पूछने-कहने का मौका ही दिया। बस, जानवर की बोली सुनाई देती रही—'पट्टू, टांय टांय....टांय !'



जनकी घर चली आयी। पर घर उसे सांप की तरह डंसे जा रहा था। वह सुबह-सुबह ही ठाकुर के पास गयी। वह कुछ कह सके, इसके पहले ही ठाकुर ने कहा, 'बात ई ह पंडिताइन, अब मैं तुमसे क्षमा चाहता हूँ। तुम हो अब एक बदनाम औरत....!'

जनकी के मुंह से एक चीख निकली, पर उसने दबाते हुए कहा, 'पर तुम तो मुझे जानते हो....मैं तुम्हारे लिए....!'

'हां, वह तो ठीक है, पर जनता के सामने....ई है कि मुझे तो अब जनता को ही देखना है।'

जनकी भाग कर जनावर के पास आयी और उसे अंक में भर लिया। उसके कपड़ों में टट्टी लगी थी और बेतरह की बदबू से हवा जैसे भर गयी थी।

जैसे-जैसे वह जनावर को नहला-धुला कर साफ कपड़े पहना रही थी, वैसे-वैसे ही ठाकुर का गुस्सा मां पर भारी पड़ता जा रहा था—तरह-तरह के बहानों से। डांटते हुए उनकी आवाज कांप उठती थी। जब चुप हो जाते, तो लगता, वह निःशब्द बोल रहे हों। दादी माई की वही स्लाई सुनाई दी और उनकी उस घर में से बाहर भागी। जनावर पपीहे की बोली में बोल उठा—पी कहां? पी कहां?

दरवाजे तक दौड़ती आयी। अमराई में जा कर उसे लगा, वह सांस नहीं ले पा रही है। पेड़ के सहारे खड़ी होकर दम मारने लगी। फिर तेज कदमों से अपने घर जाने लगी। अचानक पीछे से ठाकुर की आवाज

१२६ | डाकू आये थे

गूजी—'पंडिताइन, बुरा मान गयीं....तुम जानती हो, राजनीति की दुनिया कितनी बेबुनियाद होती है। जरा-सी बदनामी उसे ले डूबती है। जनता भेड़ की तरह है....वह न सुनती है, न देखती है, बस चल पड़ती है। मेरी बात सुनो....सुनो तो मजबूरी....

पंडिताइन ने मुड़ कर पीछे न देखा। अमराई को पार कर गयी। अमराई के आखिरी पेड़ के पीछे ठाकुर छिपकर अब भी कुछ बोलते जा रहे थे। उनकी हिम्मत न हो रही थी। वह आगे बढ़ कर जनकी को कुछ समझाते। खेतों में इधर-उधर किसानों के हल चल रहे थे। कहीं एक भी किसान ठाकुर को जनकी पंडिताइन के साथ देख लेता तो....!

जनकी तेजी से ठाकुर के गांव का सिवान पार कर रकी थी। सिवान के अंत पर वही गड़ा हुआ पत्थर, उस पर अब तक गेरू से लिखा हुआ था—ठाकुर रघुराज सिंह जिंदाबाद!

ठाकुर रघुराज सिंह को वोट दो!

चरित्रहीन सुक्खी का मुंह काला!

जनकी ने अपने गांव के सिवान में पहुंच कर अंचल से अपना मुंह सुखाया। ऊंची मेड़ पर सुखनी चिड़िया गला फाड़-फाड़ कर बोल रही थी—सुभान तेरी कुदरत!

सुभान तेरी कुदरत!

अगले खेतों में खंजन के जोड़े फुदक रहे थे। उसके दिमाग में आ रहा था—औरत की दुनिया कितनी बेबुनियाद होती है। जरा-सी बदनामी उसे ले डूबती है....समाज भेड़ की तरह है। यह सब जैसे वह पहले नहीं जानती थी। जैसे मानो ठाकुर को भी पहले से नहीं जानती थी। पहले से कौन किसे जानता है?...चाहे कितने दिन एक साथ क्यों न रहे हों? चाहे कुछ भी हुआ हो....!

जनकी अपने घर में आकर बाहर की दुनिया से बिल्कुल बंद हो गयी। भीतर से घर में ताला लगा लिया। रोज सुबह-शाम सुक्खी महा-

रामलीला | १२७

शय आकर बंद दरवाजे पर दस्तक देकर चले जाते ।

उस दिन गांव की रामलीला में रावण जलने को था । सुबह से ही मैदान में दौरी दफला, होलक-ताशे बजने शुरू हो गये थे । उन आवाजों में ऐसा लगता; जैसे राम और रावण की सेनाएं आपस में लड़ रही हैं ।

बढ़ कर उसने घर खोल दिया । पूरा घर न जाने कितने दिनों बाद भाड़ना-बुहारना शुरू किया । कूड़ा-करकट का इतना ढेर यह कहां से आ जाता है ? आंगन, चौके को गोबर माटी से लीपा । आंगन में तुलसी चबूतरे को धोकर फिर कहीं स्नान करने बैठी ।

नये बस्त्र पहन कर चौके में गयी और भोजन बनाने लगी । उसे एहसास नहीं कि सुबह से अब तक शाम हो आयी है । पर सूरज नहीं डूबा है । चौके से निकल कर ऊपर मुंडेर पर देखा—आखिरी घाम का टुकड़ा वहां दुबक कर बैठा है ।

तभी दरवाजे पर सुक्खी महाशय की आवाज सुनाई दी । जनकी ने कहा, 'भितरी चले आवो महाशय !'

महाशय दहलीज में मूर्तिवत खड़े थे । उनके पैर आगे नहीं बढ़ रहे थे ।

जनकी ने आंगन से पुकारा, 'चले आवो न !'

दहलीज से दुबारी, दुबारी से भीतर के आंगन में आते-आते सुक्खी महाशय को कितना समय लग गया ! वह अब भी आंगन की दीवार थामे खड़े थे ।

जनकी ने कहा, 'चले आवो चौके में !'

पीड़ा रख दिया । एक लोटा पानी और खाली गिलास । सुक्खी महाशय चौके में पैर रखने से उसी तरह सहम रहे थे, जैसे किसी अपरिचित के पास जाने से अबोध शिशु सहम जाता है ।

जनकी ने बांह पकड़ कर सुक्खी महाशय को पीढ़े पर बिठा दिया ।

१२८ | डाकू आये थे

सामने थाली परोस दी ! बड़ी देर बाद महाशय ने आंख ऊपर उठायी । देखा जनकी के हाथ में पंखा डोल रहा है ।

रामलीला मैदान में सहसा शोर उभरा । तमाम बाजे-गाजे बजने लगे । जै-जैकार से हवा में जैसे लहरें उभरीं । अब रावण का पुतला जलाया जा रहा था ।

रामलीला | १२९

शिव कर्मर



कमरे की दूसरी चाबी कहाँ है ?”

“मुझे नहीं पता !”

“बड़ी बहू से पूछो !”

“वह सो रही है ।”

“मझली बहू, तुझे पता है ?”

“सेफ की चाबियों के गुच्छे में तो थी ।”

मझली बहू ने पान का बीड़ा खाया । पूरे घर में कमरे की वह दूसरी

चाभी तलाशी जा रही थी। छोटी बहू ने शरारत से कहा—“कोई चोर तो नहीं उठा ले गया?”

तक तक ससुर साहब की आवाज आई—“बड़ी बहू, बहू!”

इन्दू जी के मुंह से फूटा—“हां जी!”

पर उसी क्षण घबरा कर उन्होंने अपना मुंह पकड़ लिया। पांव जैसे बाहर की बैठक से भीतर घर में दौड़े थे, उस गति को भी लड़ कर रोक ली। अब वह इस घर की बड़ी बहू कहां? बड़ी बहू तो अब तक सो रही है अपने कमरे में!

“बड़ी बहू!”

इन्दू जी चुप, अकेली खड़ी रह गई। उन के कानों में ससुर जी की पुकार, आवाजें टकरा रही हैं। वह बड़ी बहू हैं और नहीं भी। वह इन्दू भी नहीं हैं। और इन्दू जी भी नहीं। वह अब श्रीमती इन्दू प्रसाद हैं। इसी घर में आठ साल पूर्व वह कुछ ही दिनों के लिए श्रीमती इन्दू लाल थीं। हां, कुछ ही दिनों के लिए।

आज की बड़ी बहू तब मझली बहू थी। उसी ने तब कहा था—“तो क्या हुआ बड़ी जीजी, अभी तो आप की पूरी....ससुर जी ठीक कहते हैं....”

इन्दू जी के माथे पर पसीना छलछला आया। तभी उन्होंने ने सुना, बड़ी बहू जग गई हैं और ससुर जी आंगन में खड़े हुए कुछ कह रहे हैं। पूरी बात तो नहीं, बातों के टुकड़े हवा के साथ इधर बहते हुए आ जाते हैं—“बहू आई है....तुम लोग....अब तक....उस के पास नहीं....कहां है.... आई है....जाओ तो....देखो....कमरा....”

एक-एक कर तीनों बहुएं इन्दू जी के चारों ओर घिर आईं। चार पांच....अब....छह बच्चे भी। पता नहीं क्यों, आज सिर्फ मझली ने पैर छू कर प्रणाम किया है, बड़ी और छोटी ने सिर्फ हाथ जोड़ कर। इन्दू जी के अंक में शोन् और निनी बड़े मजे से बैठ गए थे। सारे बच्चे इन्दू जी

१३४ | डाकू आये थे

को बड़ी मां कहते थे। सारा कमरा अचानक बाजार की तरह गुलजार हो गया। तीनों बहुओं के लिए कई-कई साड़ियां, कपड़े, बच्चों के लिए सिले-सिलाए कपड़े और तरह-तरह के खिलौने—बम्बई के हवाई जहाज, टैंक, पनडुब्बी, कलकत्ते की रेलगाड़ी, उड़ने वाला कबूतर....

सारा घर बच्चों की खुशी से चहचहाने लगा। ससुर जी और छोटे देवर जी बच्चों से साथ-साथ खेलने लगे।

करीब ढाई साल साल बाद इन्दू जी यहां आई हैं। इस से पहले हर साल आती थीं बाकायदा कार्यक्रम बना कर। साथ में इन्दू के पति भी होते—प्रसाद साहब। संग में दो-तीन नौकर-चाकर भी। पर इस बार इन्दू जी बिलकुल अकेली; बिना किसी को बताए, पूर्व सूचना दिए अकस्मात आई थीं।

ससुर जी ने पूछा—“बड़ी बहू, प्रसाद साहब कहां हैं? वह क्यों नहीं आए?”

“वह जापान गए हैं, पिता जी”, इन्दू जी रुक-रुक कर बोलने लगीं—“दिल्ली में कोई एक नई इंडस्ट्री खोलना चाहते हैं। मैं तो कलकत्ते से बम्बई गई थी....अखिल भारतीय महिला कल्याण की केन्द्रीय बैठक थी। पूना भी जाना पड़ा, एक लेक्चर देने....हवाई जहाज से मद्रास जाना था....न जाने क्यों अब तबियत भी ठीक नहीं रहती....वजन भी देखिए, कितना बढ़ गया है? डाक्टर लोग भी....यहां चली आई। आप सब मजे में हैं न? ‘डाइटिंग’ का भी मेरे ऊपर कोई असर नहीं पड़ता।”

“भाभी जी, अब आप चिट्ठी-पत्री भी नहीं देतीं।”

इन्दू जी ने छोटे देवर को ऐसे देखा, जैसे उस में कुछ अचानक छू कर ढूँढ़ने लगी हों। उस के रेशमी बाल। कानों के पीछे वह गुच्छा। मुख की वह सरलता। आंखों में से जैसे कोई भांकता हुआ शिशु। ऐसे ही तो थे वह।

इन्दू जी ने स्नान किया। हल्के गुलाबी रंग की सिल्क की साड़ी

बन्द कमरा | १३५

पहनी। माथे पर कुमकुम का टीका लगाया। आंखों में जरा-सा काजल। गले में सफेद मोतियों का हार। और आइने में अपने आप को देख कर सहम गई।

हां, हर बार ऐसे ही हुआ है। यही रंग, यही शृंगार और यही सहम जाना। जैसे वह यहां सिर्फ इसी के लिए ही आती है। इस भाव के साथ, बल्कि इसी के द्वारा वह यहां छूट जाना चाहती है—जैसे पेड़ से पत्ते और फूल जमीन में बरस कर छूट जाते हैं न, ठीक कुछ उसी तरह। पर यहां से जाते ही वह मानो बिना पात-फूल के वृक्ष की तरह हो जाती है। खादी की सफेद साड़ी, कलाई में घड़ी और कहीं कुछ भी नहीं। हां, इन बातों के लिए समय भी तो नहीं होता। तरह-तरह की समाज-सेवा, शिशु-कल्याण कार्य, नारी-निकेतन की जिम्मेदारी, प्रसाद साहब के तीन बच्चे, बंगले का इन्तजाम, घर-गृहस्थी, मेहमान-रिश्तेदार, नौकर, ड्राइवर, माली वगैरा।

मझली ने कहा—“चलिए, नाश्ता कर लीजिए।”

इन्दू जी के मुंह से निकला—“मेरे कमरे की चाभी मिली?”

“मिल जाएगी, नाश्ता कीजिए।”

वरामदे के तख्त पर बैठते हुए इन्दू जी ने कहा—“यहां भाने का तो कार्यक्रम था नहीं, वरना चाभी साथ ले आती। चाभी कलकत्ते में है।”

“चाय या काफी?” मझली बहू ने पूछा।

“चाय; पर दूध नहीं, चीनी भी नहीं सिर्फ नींबू।”

यह कहती हुई इन्दू जी ने आंगन के आर-पार अपने कमरे की ओर निहारा। पूरब दिशा से एक गौरैया चिड़िया मुंह में तिनका दबाए हुए उसी कमरे की ओर उड़ी थी। इन्दू जी बिना कुछ मुंह में डाले, नींबू की काली, फीकी चाय पी रही थीं। नाश्ते की प्लेट सामने पड़ी थी। तीनों बहुएं बड़े मजे से नाश्ता कर रही थीं। हंस-बोल रही थीं और इन्दू जी की समाज-सेविका नारी उस हंसी-बोल में उसी तरह भाग ले रही थी। छोटी

बहू को रह-रह कर जंभाई आ रही थी। बड़ी बहू कनखियों से इन्दू जी को निहारती थी—उनकी मोटी गोरी बांह, गले का हार, और वह सब कुछ जो एक बहू दूसरी बहू में देखती है।

“कुछ भी नहीं खाइएगा?” मझली बहू ने बड़े आदर से पूछा।

“पैंतीस साल के बाद स्त्री को खाना बिल्कुल कम कर देना चाहिए।”

बड़ी बहू की इस बात में छोटी बहू ने जोड़ा—“औरतें मोटी क्यों हो जाती हैं?”

इन्दू जी ने मुसकराते हुए कहा—“हिन्दुस्तान की आबोहवा ही ऐसी है।”

छोटी बहू जंभाई लेते-लेते हंस पड़ी।

इन्दू जी की नजर बार-बार अपने कमरे की ओर जाती और वहां से थक कर लौट आती और शून्य में कहीं पालथी मार कर बैठ जाती। वह अपने इस मूल घर में इस तरह आ कर जरा भी भावुक नहीं होती। मेहमान का भाव नहीं होता। बस, न जाने कैसी कृतज्ञता का भाव होता है। यहां इस घर में इन्दू जी के मुश्किल से बारह दिन बीते हैं। बहू हो कर आना, तीसरे दिन सुहागरात, आठवें दिन उनका बीमार होना, और बस बारहवें दिन....इसके बाद इन्दू जी को कुछ भी होश नहीं। कहां, क्या हुआ, कैसे हुआ, क्यों हुआ, कुछ भी तो पता नहीं। उसी दिन से फिर होश है जब ससुर जी ने अपनी बेटी की तरह प्रसाद साहब के संग उसकी शादी रचा दी, तब उस समय लोगों में इस पर कैसी-कैसी प्रतिक्रियाएं हुई थीं। ससुर जी को क्या-क्या नहीं सुनना पड़ा था। प्रसाद साहब के खिलाफ कितना-कितना सब हुआ था।

इन्दू जी में केवल कृतज्ञता का भाव है—सबकी ओर से, सब से।

सहसा ससुर जी की आवाज गूजी—“कुंजी नहीं मिल रही है तो बड़ी बहू का कमरा कैसे खुलेगा?”

इन्दू जी बिल्कुल बच्चों की तरह ससुर जी का मुंह ताकने लगी थीं।

“ताला तोड़ना होगा।”

“नहीं पिता जी !”

इन्दू जी भीतर से कांप गईं। ताला तोड़ना, यह भाव उन्हें ऐसा लगा जैसे तब उनकी सुहाग की ताजी चूड़ियां तोड़ी गई थीं।

“वह मुझे पिता जी ही कहता था, और लड़के मुझे पापा कहते हैं....” समुर जी बोले। समुर जी भावुक हो गए थे। उनकी आंखें छल-छला आईं। इन्दू जी बिल्कुल दर्शक भाव से ताक रही थीं। इस घर में उनका ऐसा क्या बीता है कि वह भावुक हों।

ऐसा क्या ?

अनिर्वचनीय !

हां, जो बिना बीते ही बीता है। जो बिना जिए ही जिया है, जो अब तक संग-संग है—मेले में मां की अंगुली पकड़ कर चलते हुए किसी बालक की तरह। ऐसे चुप भाव की तरह जो कहीं बाहर से नहीं मिला, भीतर से अपने आप उपजा है और अब तक बराबर बढ़ता चल रहा है—उस पाताल वृक्ष की तरह जो उल्टा टंगा है आकाश में, जिसकी जड़ें ऊपर है वृक्ष नीचे शून्य में लटका है। उसी के पत्ते और फूल यहां इस घर में बरस जाते हैं, नहीं तो उस लटके हुए वृक्ष का वजन आकाश का शून्य सम्भाल नहीं पाता।

एकाएक छोटी बहू की हंसी चमकी।

आगे-आगे देवर और पीछे छोटी बहू अपने कमरे से निकले।

“चाभी मिल गई भाभी जी ?”

छोटी बहू ने इन्दू जी के हाथ में उनके कमरे की चाभी दे दी।

“कहां मिली ?”

“थी तो।”

चाभी हाथ में लिए हुए इन्दू जी जैसे कहीं खो गयीं ? उसके स्पर्श मात्र से उनके भीतर कुछ गलने-पिघलने लगा। सांस फूलने लगी, अजीब-

१३८ | डाकू आये थे

सी आशंका दहशत—बिल्कुल उस रात वाली, जब पहली बार उस कमरे में....उसी तरह धीरे-धीरे इन्दू के पांव उस कमरे की ओर बढ़ने लगे और इन्दू जी उसे देखने लगीं—इन्दू जी इन्दू को। जैसे मां बेटी को देखती है, विदा करते समय।

पता नहीं आज हाथ इतने कांप क्यों रहे थे ? ताले में चाभी जैसे जाना ही नहीं चाह रही थी। ताला खुला तो दरवाजा छुए हुए खड़ी रह गईं। जैसे कह रही हों—अन्दर आ जाऊं ?

धीरे से दरवाजा खोला, जैसे उसके भीतर कोई सो रहा हो, वह कहीं आहट से जग ने जाए। धीरे से टेबिल-लैम्प जलाया और आंख मूंदे पूरे कमरे को देखती रहीं। खुली आंख से देखने में कुछ विखर जाने का भय था।

फिर दूसरा लैम्प जलाया। कमरे में आड़ी-तिरछी रोशनी में तरह-तरह के दृश्य-अदृश्य चित्र उभरने लगे। इन्दू जी फिर आंखें फाड़े पूरे कमरे को देखने लगीं। पूरा कमरा बिल्कुल भाड़ा-पोंछा था। उनके चित्र पर किसने यह कपड़ा डाल कर ढक दिया है ? कौन आया था इस कमरे में ? चित्र से कपड़ा उठाते हुए हृदय इस तरह कांपा, जैसे हवा में पीपल पात। और न जाने कब तक उस चित्र के सामने मूर्तिवत् वह खड़ी रह गईं।

“कैसी हो ?”

जैसे चित्र ने निशब्द पूछा हो और इन्दू जी ने इन्दू को सहारा दिया हो, उत्तर देने का।

पर कहीं कुछ उत्तर न दिया गया। आंख ही जैसे हाथ हो गए हों। उन्हीं से कमरे का एक-एक सामान छुआ जाने लगा ? ब्याह का एलबम, दोनों जयमाल, ब्याह के जोड़े, कपड़े, रेशमी गिलाफ, तर्किए के फूल और सिरहाने की वह रूमाल। पास में ही खड़ा वह टेबिल-लैम्प। इसी तरह तब लैम्प बुझाया गया था। कई बार लैम्प जलाया और बुझाया। वे

बन्द कमरा | १३९

शब्द जैसे अब भी सदा उस कमरे में हैं—‘रोशनी बुझा दें’, ‘अब जला दें....’

और क्या बात हुई थी इस कमरे में ?

इन्दू जी उस कमरे में हूँदने लगीं ? फिर थक कर उसी पलंग पर बैठ गई ।

कहाँ कोई बात हो पाई थी ।

वे बातें क्या थीं ?

कल्पना से भी नहीं जानी जा सकती ।

फिर वह क्या है, जो हरदम संग-संग रहता है । इस कमरे में और इससे परे भी उसी आकाश की तरह, जिसका मौजूद रहना कहीं खत्म नहीं होता ।

पीठ और कन्धे पर कोई धीरे-धीरे असंख्य हाथों से सहला रहा है । उसकी अनन्त अंगुलियां वालों में उलझ रही हैं ।

एकाएक लगा, बाहर से कोई इस कमरे में झाँक रहा है । पर कमरा तो भीतर से बन्द है और पर्दा भी खिंचा हुआ है ।

नहीं, कोई और कमरे में ही उपस्थित है ।

यह कौन है ? किसने कमरे में भाड़-पोंछ की है ? कमरे भर में पड़ी धूल को धीरे-धीरे स्वयं ही भाड़ना-पोंछना कितना अच्छा लगा था । कितना एकान्त, कितना अनिर्वचनीय ।

इन्दू जी ने कमरे का दरवाजा खोल दिया । आंगन में खेलते हुए बच्चों की आवाज कमरे में दौड़ कर घुस गई ।

छोटी बहू की ठहाकेदार हंसी फिर चमकी और इस कमरे में आकर एक कोने में खड़ी रह गई । इन्दू जी ने जल्दी से चित्र के ऊपर वही पर्दा ओढ़ा दिया और फिर उसी तरह आंख मूंदे देखती रह गई ।

शोनू और निनी कमरे में घुस आए । शोनू की गुड़िया अब आंख नहीं खोलती थी ।

निनी का कबूतर अब उड़ता नहीं था । दोनों वही ठीक कराने आई थीं ।

इन्दू जी कमरे से बाहर निकल कर आंगन के बरामदे में पड़े पलंग पर बैठ गई । सारे बच्चों ने उन्हें घेर लिया । किसी का खिलौना अब तक टूट चुका था, किसी का रुक गया था । किसी को चलाना और चाभी देना भूल गया था । इन्दू जी ने सबके खिलौने ठीक कर दिए । शोनू की गुड़िया फिर आंख खोलने और मूंदने लगी थी । निनी का कबूतर फिर से उड़ने लगा था ।

बेहद थके पांव से इन्दू जी छोटे देवर के पास गईं । वह गद्दी पर बैठा दूकान को फोन कर रहा था । भाभी को देखते ही उसने फोन रख दिया ।

“कहो भाभी जी ?”

“मेरा कमरा किसी ने खोला था ?”

छोटा देवर संकोच से गड़ गया—“हां भाभी जी, उसी छोटी ने । मैंने उसे बहुत डांटा । मैं माफी मांगता हूं ।”

“तो क्या हुआ !” इन्दू जी ने उसे रोक लिया और मुस्कराने लगीं देवर के चेहरे पर आंखें गाड़े हुए ।

“आओ तो, जरा देखूँ तुम्हारा कमरा !”

देवर को संग लिए हुए उसके कमरे की ओर बढ़ी । देवर का वह कमरा बिल्कुल रसोई घर से ही सटा हुआ था । दूसरी ओर नहाने का कमरा लगा था । कमरे में पांव रखा, तभी छोटी बहू हंसती हुई न जाने कहां से आ गई । कमरे में सिर्फ एक रोशनदान, जहां से हवा कम, गुसल-खाने के गिरते हुए पानी का शोर ज्यादा ।

छोटी बहू ने जंभाई लेते हुए कहा—“चार बजे ही मेरी आंख खुल जाती है । ससुर जी ठीक उसी समय स्नान करने लगते हैं ।”

फिर अंगड़ाई लेते हुए बोली—“इस कमरे में दिन को भी सोना

मुश्किल है, रसोई घर से....”

तभी देवर जी ने बात बदल दी—“भाभी जी, और क्या हालचाल है ? कुछ कलकत्ते की बात बताइए !”

इन्दू जी की दाईं कनपटी पर बालों का एक हल्का सा गुच्छा उड़ रहा था। बाएँ हाथ की अंगुलियां मोती के हार में उलभी हुई थीं और वह न जाने कहां क्या देख रही थीं।

“भाभी जी !” देवर जी के इस शब्द ने इन्दू जी को सहसा जगा दिया। उनके मुंह से निकला—“आओ, कोई खेल खेलें !”

छोटी बहू भट ताश निकाल कर फेंकने लगी।

देवर ने पूछा—“भाभी जी, क्या खेलिएगा ?”

“तुम बताओ !”

“नहीं, आप ?”

बाएँ हाथ की पांचों अंगुलियों का एक गुच्छा बना कर दाईं मुट्ठी में बांध लिया। पांचों अंगुलियों के सिरे नन्हें-नन्हें लाल पुष्प की तरह खिल गए। इन्दू जी ने कहा—“लो पकड़ो, मेरी बीच की अंगुली।”

देवर जी अंगुलियों के ऊपर अपनी बीच की अंगुली फेरने लगे। इन्दू जी के भीतर कुछ सनसन-सनसन करने लगा। वह एकदम कमरे की दूधिया छत निहारने लगी। वह छत नीला आकाश हो गया। शरद ऋतु का आकाश। उस में तारे छिटक आए। वह सितारा कौन है ? कहां है ?

देवर जी ने उछल कर कहा “यह है बीच की अंगुली।”

इन्दू जी ने मुट्ठी खोल दी। वह बीच की अंगुली नहीं थी। यही खेल होने लगा। छोटी बहू ने भी कई बार कोशिश की। सब हार गए।

हार कर देवर ने पूछा—“वह बीच की अंगुली आप कहां छिपा लेती हैं ?”

“कोई अपना रहस्य बताता है !” इन्दू जी हंस पड़ीं। ऐसी हंसी, “जैसे चमेली के फूल बरस गए हों।”

छोटी बहू ने कहा—“मुझे पता है, आप बीच की अंगुली हथेली में ही मोड़ लेती हैं और उस की जगह दाएं हाथ की एक अंगुली मिला देती हैं।”

इन्दू जी छोटी बहू को निहारती रह गईं। छोटी बहू हंसने लगी थी। जैसे उस ने रहस्य जान लिया हो।

“क्यों भाभी जी, यह ठीक कहती हैं ?”

“एक की जगह दूसरी....”

इन्दू जी जैसे खुद सवाल पूछ रही हो। तब तक उस कमरे में मझली बहू चाय ले कर आ गईं। अपनी नींबू की फीकी चाय देखकर इन्दू जी ने अजब स्वर में कहा—“इस की जगह यह चाय कैसी रहेगी ?

और वह न जाने कितने दिनों बाद दूध और चीनी वाली चाय पीने लगीं—बिल्कुल चुपचाप। आखिरी घूंट पी कर एकाएक बोली—“एक की जगह दूसरा, दूसरी....” लगा, कमर दुखने लगी हो। आह कर के उठने लगी तो लगा ‘हे राम’ कह रही हों।

खड़ी हो कर एक बार फिर कमरे को देखा और छोटी बहू के पलंग पर पालथी मार कर बैठ गईं। एक एक कर सब के मुंह ताकने लगीं और धीरे से वही आह भर के पलंग पर सो गईं। थोड़ी ही देर बाद उन की नाक बजने लगी। तीनों फर्श पर गुलाम-चोर खेलने लगे। पहला गुलाम छोटी बहू ने पकड़ा। दूसरा देवर ने ? तीसरा मझली बहू ने। और चौथा गुलाम पकड़ते-पकड़ते खाने का समय हो गया। बड़ी बहू न जाने किस बात पर महाराजिन को चौके में डाटने लगीं। और खेल खत्म हो गया।

इन्दू जी की नींद टूटी तो देखा महाराजिन भोजन लिए खड़ी थी और न जाने क्या बड़बड़ा रही थी।

“क्या बात है महाराजिन ?” इन्दू जी ने पूछा।

उस ने कहा—“क्या बताऊं बहुरानी, जब आप इहां आती है, और सारा घर जब आप को बड़ी बहू के नाम से पुकारता है तो यह बड़ी बहू

जल कर खाक होती है।”

इन्दू जी अपने कमरे की चाभी से बच्चों की तरह खेलने लगीं। तभी कमरे में छोटी बहू और देवर जी आए।

‘अरे, आप का भोजन ठण्डा हो रहा है।’

एक अजब मर्मभेदी नजर से इन्दू जी ने दोनों की ओर देखा। छोटी बहू की चाभी देते हुए कहा—‘यह लो, वह कमरा अब तुम दोनों का है....’

दोनों मूर्तिवत् निहारने लगे। देवर ने कहा—‘पर यह कैसे होगा भाभी जी, वह कमरा ही तो....’

‘अब वह तुम्हारा है।’ इन्दू जी यह कह कर मुसकरा पड़ीं।

यह खबर जब ससुर जी के पास पहुंची तब वह आंगन में आ कर बोलने लगे—‘इस का मतलब है कि अब वह यहां नहीं आएगी!’

सहसा इन्दू जी सामने आईं—‘पिता जी, मैं जरूर आऊंगी। क्यों नहीं आऊंगी?’

‘फिर तुम्हारा कमरा?’

‘मेरा कमरा!’

इन्दू जी की नजर उस कमरे की ओर गई। उधर से वही गौरैया। चिड़िया आ कर आंगन से ऊपर उड़ गई। बरामदे में बच्चे खिलौने खेल रहे थे। टैंक चल रहे थे। मोटर-गाड़ियां दौड़ रही थीं। बन्दूक के फायर हो रहे थे।

शोनू अपना कबूतर ले कर आई। कबूतर अब उड़ नहीं पा रहा था। उस के दोनों पंख भूल गए थे।

‘बड़ी मां, मीरा कबूतर?’

‘दूसरा आ जाएगा, बेटे!’

‘दूसरा?’

इन्दू जी ने शोनू को अंक में भर लिया। उस की गीली आंखों को वह निहारने लगीं।

आंगन के आकाश में एक हवाई-जहाज उड़ा जा रहा था।

